'भारत-निर्माता' में अंकित महापुरुषों का क्रम

१. मनु
२. वैदिक ऋषि
३. वाल्मीकि
४. कृष्ण द्वैपायन व्यास
५. श्रीकृष्ण
६. याज्ञवल्क्य
७. सूत्रकार और स्मृतिकार
८. पाणिनि
९. षट्दर्शन के रचयिता
१०. महावीर
११. गौतम बुद्ध
१२. कौटिल्य
१३. अशोक
१४. प्राचीन रसायनवेत्ता और प्राणाचार्य
१५. पतंजलि
१६. नागार्जुन
१७. प्राचीन ज्योतिषी और गणितज्ञ
१८. कालिदास और प्राचीन वाङ्मय के अन्य रत्न
१९. मध्यकालीन भारतीय सम्राट्
२०. मीमांसक और बौद्ध पंडित
२१. शंकर
२२. रामानुज
२३. मध्व
२४. वल्लभ
२५. रामानंद और अन्य मध्यकालीन संत
२६. कबीर
२७. चैतन्य
२८. नानक
२९. सूरदास
३०. तुलसीदास
३१. मीरा
३२. अकबर
३३. प्रताप
३४. तानसेन और अन्य संगीतज्ञ
३५. गोविन्दसिंह
३६. शिवाजी
३७. अहल्याबाई
३८. राममोहनराय
३९. हरिश्चन्द्र और हिन्दी के अन्य प्रारंभिक निर्माता
४०. ग़ालिब और उर्दू के अन्य प्रारंभिक निर्माता
४१. दयानंद
४२. रामकृष्ण
४३. केशवचंद्र
४४. विवेकानंद
४५. रामतीर्थ
४६. दादाभाई नवरोज़ी
४७. सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी
४८. गोपालकृष्ण गोखले
४९. बाल गंगाधर तिलक
५०. मदनमोहन मालवीय
५१. मोहनदास गांधी
५२. चित्तरंजन दास
५३. लाजपतराय
५४. सरोजिनी नायडू
५५. मोतीलाल नेहरू
५६. विट्ठलभाई पटेल
५७. जवाहरलाल नेहरू
५८. सुभाषचन्द्र बोस
५९. राजेन्द्रप्रसाद
६०. अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ
६१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बंग-साहित्य के अन्य रत्न
६२. महावीरप्रसाद द्विवेदी
६३. आधुनिक हिन्दी के अन्य रत्न
६४. प्रेमचंद
६५. इक़बाल और आधुनिक उर्दू-साहित्यिक
६६ गुजराती, महाराष्ट्रीय और दक्षिणी साहित्यकार
६७. संगीत के पुनर्जन्मदाता
६८. उदयशंकर और नृत्य के पुनरुद्धारकर्त्ता
६९. अवनीन्द्रनाथ और अन्य कलाकार
७०. अरविन्द घोष
७१. जगदीशचंद्र वसु
७२. प्रफुल्लचन्द्र राय
७३. श्रीनिवास रामानुजन
७४. चंद्रशेखर वेंकट रामन
७५. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और अन्य विद्वान्

ग्राहकों के संशोधित नियम

१. 'हिन्दी विश्व-भारती' क्रमशः प्रकाशित होनेवाले ५० अङ्कों या भागों में समाप्त होगी।

२. 'हिन्दी विश्व-भारती' का मूल्य नीचे लिखे अनुसार है:—

(क) अजिल्द एक प्रति का मूल्य	१।=) रु०
(ख) ,, बारह अङ्कों का पेशगी चन्दा या मूल्य	१५) रु०
(ग) ,, ५० अङ्कों का पेशगी चन्दा या मूल्य	६०) रु०
(घ) सजिल्द ५० अङ्कों का पूरा सेट (१० जिल्दों में)	७८) रु०
(ङ) प्रति जिल्द (५ अङ्कों की).....	१०) रु०
(च) पाँच अजिल्द अङ्कों के लिए जिल्द-कवर........	१॥) रु०
(छ) पाँच अङ्कों की जिल्द बँधाई (मय जिल्द कवर)	१॥।) रु०

उपरोक्त मूल्य १ जनवरी, १९४१, से लागू हैं। इससे पहले जो सज्जन ग्राहक बन चुके हैं, उन्हें पहले के रियायती मूल्य पर ही 'विश्व-भारती' मिलती रहेगी, बशर्ते कि ३१ मई, १९४१, तक वे अगले वर्ष का पूरा चंदा भेज दें। जो ऐसा नहीं करेंगे, उन पर ऊपर लिखे नए मूल्य ही लागू होंगे।

[नोटः—(क), (ख) और (ग) में डाक-ख़र्च सम्मिलित है; (घ), (ङ), (च) और (छ) का डाक-ख़र्च ग्राहक के ज़िम्मे होगा। (क), (ख) और (ग) हम पोस्टल सर्टिफ़िकेट लेकर साधारण बुकपोस्ट द्वारा ग्राहकों को भेजते हैं। यदि किसी वजह से डाकख़ाने द्वारा इनकी डिलीवरी न हुई तो हम इसके ज़िम्मेवार नहीं हैं। जो सज्जन अधिक हिफ़ाज़त के साथ अपनी प्रतियाँ मँगाना चाहें उन्हें, रजिस्ट्रेशन का ख़र्च प्राप्त होने पर, रजिस्टर्ड बुकपोस्ट द्वारा प्रतियाँ भेज दी जायँगी।]

३. ग्राहक बन जाने पर कार्यालय से हर ग्राहक को ग्राहक-नंबर दिया जायगा। ग्राहकों को पत्र-व्यवहार में अपना यह ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो आज्ञा-पालन में देर हो सकती है।

४. एजंटों को प्रति आर्डर ज़्यादा-से-ज़्यादा २) रु० पेशगी लेने का अधिकार है। एजंट यदि फुटकर प्रति सप्लाई करें तो सप्लाई की गई प्रतियों का दाम उन्हें दिया जा सकता है।

५. चेक या पोस्टल आर्डर "एजूकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड, लखनऊ" के नाम से ही आना चाहिए न कि 'हिन्दी विश्व-भारती' के नाम से। चेक की रक़म के साथ बैंक-कमीशन के ।=) भी भेजना ज़रूरी है।

६. ग्राहकों को जानेवाले ऐसे पैकेट पर, जिसमें कई अङ्क एक साथ भेजे जाते हैं, यह लिखा रहता है कि कौन-कौन अङ्क भेजे जा रहे हैं। जिस अङ्क का उल्लेख न हो, उसके बारे में यह समझना चाहिए कि वह स्टॉक में नहीं है और फिर से छपते ही ग्राहक महोदय को जल्दी से जल्दी भेज दिया जायगा।

विश्व की कहानी

अपने एक उपग्रह से बृहस्पति का दृश्य

यह चित्र काल्पनिक है। बृहस्पति के विशाल बिम्ब की आड़ में सफ़ेद और काली गेंद जैसी जो आकृतियाँ हैं वे उसके सामने से होकर गुज़रते हुए दो उपग्रहों को सूचित करती हैं। सफ़ेद आकृति के समीप ही बाईं ओर दिखाई दे रहा काला बिंदु उक्त उपग्रह की बृहस्पति पर पड़ रही छाया को सूचित करता है।

बृहस्पति

सूर्य को छोड़कर बृहस्पति सौर परिवार का सबसे बड़ा सदस्य है। इसकी कक्षा मंगल और अवान्तर ग्रहों की कक्षाओं से बाहर पड़ती है। आइए, इस लेख में इस महत्त्वपूर्ण ग्रह से परिचय प्राप्त करें।

बृहस्पति अन्य सब ग्रहों से बड़ा है, तो भी अधिक दूरी के कारण साधारणतः यह शुक्र से कुछ कम ही चमकीला दिखलाई पड़ता है। एक बार इसको देख लेने पर इसकी पहचान पीछे आसानी से की जा सकती है, क्योंकि यह तारों से अधिक चमकीला है। शुक्र और इस ग्रह में अंतर यह है कि शुक्र क्षितिज से केवल थोड़ी ही ऊँचाई पर और संध्या समय पश्चिम में या सबेरे पूरब में दिखलाई पड़ता है, परंतु बृहस्पति क्षितिज से किसी भी ऊँचाई पर रह सकता है और अर्धरात्रि में भी क्षितिज के ऊपर दिखलाई पड़ सकता है। बृहस्पति की चमक प्रायः सदा एक समान रहती है। कारण यह है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी बृहस्पति और सूर्य के बीच की दूरी की अपेक्षा बहुत कम है। मोटे हिसाब से हम यह मान सकते हैं कि हम सूर्य से बिल्कुल सटकर खड़े हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बृहस्पति का केवल वही गोलार्द्ध हमें दिखलाई पड़ता है जिस पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। अर्थात् बृहस्पति का बिम्ब हमें प्रायः सदा पूर्णिमा के चंद्रमा के समान दिखलाई पड़ता है—इसमें हमें कलाएँ प्रायः नहीं दिखलाई पड़तीं। फिर बृहस्पति सूर्य के चारों ओर प्रायः गोल कक्षा में चलता है और मोटे हिसाब से पृथ्वी सूर्य के पास ही रहती है। इसलिए पृथ्वी से बृहस्पति की दूरी भी बहुत कम ही घटती-बढ़ती है। इन दोनों कारणों से बृहस्पति की चमक में उतना घटाव-बढ़ाव नहीं होता जितना मंगल या शुक्र की चमक में।

बृहस्पति का एक फ़ोटो
तीर के निशान से बृहत रक्त चिह्न दिखाया गया है। यह फ़ोटो पराकासनी किरणों द्वारा लिया गया है। (फ़ो०—'लिक वेधशाला'।)

नाप और दूरी

बृहस्पति अन्य ग्रहों से बहुत बड़ा है। जब इसकी उपमा नारंगी से दी गई थी तो अन्य ग्रहों की उपमा राई, मटर और लीची से देनी पड़ी थी (देखो पृष्ठ ६६०)। केवल शनि ही बृहस्पति के आगे कुछ-कुछ बराबरी का दावा रख सकता है। बृहस्पति के बड़े आकार का एक सिद्धांत यह है कि हमारे सौर जगत् की उत्पत्ति हमारे सूर्य के निकट किसी अन्य सूर्य के आ जाने से हुई। आरंभ में केवल हमारा सूर्य ही रहा होगा, पृथ्वी और अन्य ग्रह न रहे होंगे। परंतु हमारा सूर्य और इसी के समान वे अन्य सूर्य जो हमें महान् दूरी
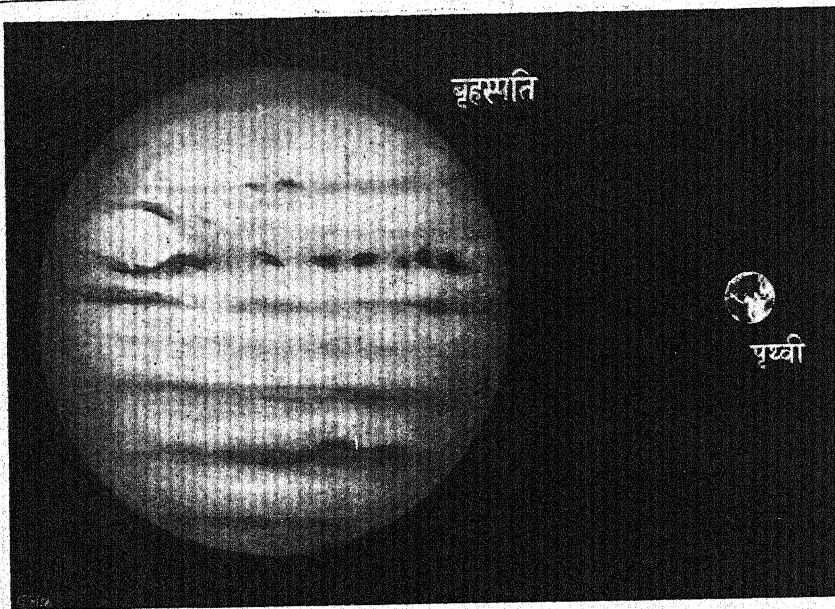
बृहस्पति और पृथ्वी के आकार की तुलना

बृहस्पति का व्यास ८७००० मील है अर्थात् पृथ्वी के व्यास से लगभग दस गुना है।

उपरोक्त सिद्धांत का समर्थन होता है। इस सिद्धांत से बृहस्पति के बड़े होने का कारण अच्छी तरह समझ में आ जाता है।

जैसे पृथ्वी नारंगी के समान कुछ चिपटी है उसी प्रकार बृहस्पति भी चिपटा है, अंतर यही है कि पृथ्वी बहुत कम चिपटी है और बृहस्पति अपेक्षाकृत बहुत अधिक। पृथ्वी का ध्रुवोंवाला व्यास भूमध्य रेखावाले व्यास की अपेक्षा कुल ⅓ प्रतिशत ही छोटा

के कारण तारे की तरह दिखलाई पड़ते हैं सदा चलते रहते हैं। किसी सुदूर काल में संयोगवश कोई अज्ञात सूर्य हमारे सूर्य के पास से निकल गया होगा। उस अज्ञात सूर्य के भीषण आकर्षण के कारण हमारे सूर्य में भयानक तरंगें उठी होंगी, ठीक उसी प्रकार जैसे चंद्रमा के कारण हमारी पृथ्वी के समुद्रों में ज्वार-भाटा उठा करता है। हमारे सूर्य पर जब तरंगें उठी होंगी तो उसका एक अंश छटक गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे जब समुद्र में कोई बड़ी लहर उठती है तो बहुत-सा जल छटक जाता है। छटका हुआ सूर्य का यह अंश गोल न होकर गुल्ली की तरह लंबा हो गया होगा, क्योंकि एक ओर से हमारे सूर्य के, और दूसरी ओर से अज्ञात सूर्य के आकर्षण ने इसको तान डाला होगा। अज्ञात सूर्य के निकल जाने पर हमारे सूर्य से निकला लंबा अंश छिन्न-भिन्न हो गया होगा, ठीक उसी प्रकार जैसे लहरों से छटका पानी अंत में छीटों के रूप में बँट जाता है। स्वभावतः जब सूर्य से निकला गुल्ली के रूपवाला अंश टूटा होगा तो इसके मध्य भाग बड़े रहे होंगे। अनुमान किया जाता है कि ये ही मध्यवाले भाग बृहस्पति और शनि हुए होंगे। ओर-छोर पर स्थित द्रव्य से बुध और प्लूटो उत्पन्न हुए होंगे। ओर-छोर के समीपवाले भागों से शुक्र और नेपच्यून उत्पन्न हुए होंगे, इत्यादि। यदि ग्रहों की नापों पर ध्यान दिया जाय तो

है, परंतु बृहस्पति का ध्रुवोंवाला व्यास दूसरे व्यास से लगभग ६ प्रतिशत छोटा है। यदि हम पृथ्वी का चित्र पैमाने के अनुसार बनावें तो पृथ्वी के चिपटेपन का पता हमें न चलेगा, परंतु बृहस्पति का चिपटापन प्रत्येक फ़ोटोग्राफ़ और पैमाने के अनुसार बने नक़्शे में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। कारण यह है कि बृहस्पति का व्यास पृथ्वी के व्यास की अपेक्षा लगभग दस गुना होते हुए भी बृहस्पति अपनी धुरी पर केवल दस घंटे में ही घूम लेता है। निस्संदेह स्थूलकाय होने पर भी द्रुत गति से नाचने के कारण ही बृहस्पति इतना चिपटा हो गया होगा।

सूर्य के चारों ओर एक बार चलने में बृहस्पति को लगभग १२ वर्ष का समय लगता है। सूर्य से बृहस्पति की मध्यम दूरी लगभग ४८,३३,००,००० मील है।

दूरदर्शक से देखने पर

दूरदर्शक से देखने पर बृहस्पति के चिपटे बिम्ब पर हलकी समानान्तर धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, जैसा इस लेख में दिये गये फ़ोटोग्राफ़ों से स्पष्ट है। ये धारियाँ बृहस्पति की भूमध्यरेखा के समानान्तर रहती हैं। धारियाँ बृहस्पति की कोई स्थायी अंग नहीं हैं, क्योंकि उनकी चौड़ाई और संख्या घटा-बढ़ा करती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति बादलों से ढका रहता है और धारियाँ या तो बादलों के बीच के स्वच्छ स्थान हैं या गाढ़े रंग के बादल

हैं। कभी-कभी केवल दो ही चौड़ी-चौड़ी धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, कभी-कभी आठ-दस तक पतली-पतली धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी उनका रूप देखते-देखते बदल जाता है, तब ऐसा जान पड़ता है, जैसे बृहस्पति पर प्रचंड आँधी आई हो। परंतु कभी-कभी धारियों का रूप महीने-दो महीने तक एक-सा ही रह जाता है। बृहस्पति का रंग कुछ-कुछ गुलाबी लिये पीला रहता है और धारियाँ मटमैली दिखलाई पड़ती हैं। कभी-कभी वे कुछ ताँबे के रंग की जान पड़ती हैं।

बृहस्पति पर कभी-कभी धब्बे भी दिखलाई पड़ते हैं। ये धब्बे साधारणतः छोटे होते हैं, और कुछ ही दिनों तक टिकते हैं, परंतु एक बार ऐसा धब्बा दिखलाई पड़ा जो ७५ वर्ष तक दिखाई देता रहा। इसका नाम "बृहद् रक्त-चिह्न" (the Great Red Spot) रक्खा गया। बृहस्पति के दक्षिण भाग में यह चिह्न वर्षों तक स्पष्ट दिखलाई पड़ा, परंतु अब वह प्रायः मिट गया है। यह लगभग ३०,००० मील लंबा और ७,००० मील चौड़ा था। पृथ्वी से दूर-दर्शक द्वारा देखने पर यह परवल के आकार का और ईंट के रंग का दिखलाई पड़ता था। सन् १८७८ में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ा और उस समय के ज्योतिषियों का ध्यान इसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इसका इतना बड़ा होना, इसका चटक रंग और इसका बराबर एक समान रह जाना बड़े मारके की बातें थीं। चार वर्ष बाद इसका रंग फीका पड़ने लगा, परंतु आकार छोटा न हुआ। पीछे यह इतना फीका हो गया कि केवल बहुत ध्यान देने से इसके रहने का आभास होता था।

बृहस्पति पर कभी-कभी सफ़ेद धब्बे भी दिखलाई पड़ते हैं।

अक्षभ्रमण

बृहस्पति अपनी धुरी पर बराबर घूमता रहता है और उसके एक बार घूमने में लगभग दस घंटे लगते हैं, परंतु ठीक समय नापना सरल नहीं है। बात यह है कि सूर्य की तरह बृहस्पति पर भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों का अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि बृहस्पति के चिह्न स्थायी नहीं हैं और भिन्न-भिन्न चिह्नों से अक्षभ्रमण-काल भिन्न-भिन्न निकलता है। बृहस्पति की भूमध्यरेखा के पास के धब्बे एक चक्कर लगभग ९ घंटे ५० मिनट २६ सेकंड में लगाते हैं। यह औसत मान है। कोई धब्बे इससे शीघ्र चलते हैं, कोई इससे धीरे। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के पासवाले धब्बे लगभग ५ मिनट अधिक समय लेते हैं। बृहद् रक्त-चिह्न भी सदा एक वेग से नहीं

सौर परिवार की उत्पत्ति के संबंध में एक सिद्धान्त यह है कि सुदूर भूतकाल में जब हमारा सूर्य अकेला ही था, किसी अन्य अज्ञात सूर्य या नक्षत्र के हमारे सूर्य के समीप होकर निकलने से उसके आकर्षण के द्वारा एक लंबा-सा गुल्ली-नुमा अंश छटककर अलग हो गया था। उसी गुल्ली-नुमा अंश से छींटों की तरह टूट-टूटकर विभिन्न ग्रह बन गए। इन ग्रहों के आकार तथा विन्यास (दे० दाहिने कोने का चित्र) से उपरोक्त सिद्धान्त का समर्थन होता है।
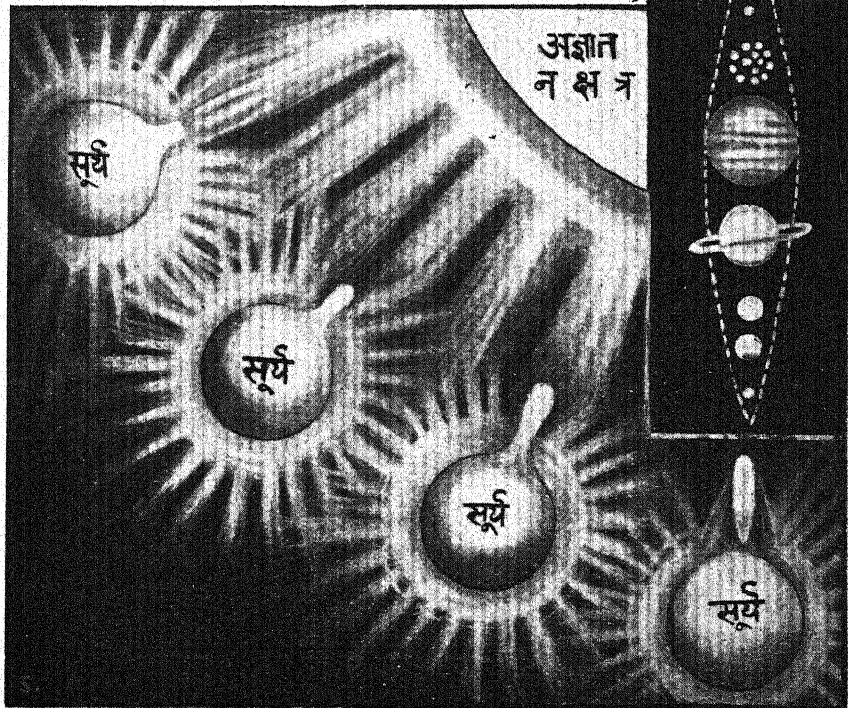
चलता था। समान वेग से चलने पर इसे जहाँ पहुँचना चाहिए था वहाँ से यह कभी बीस हज़ार मील आगे निकल जाता था या इतना ही पीछे छूट जाता था। जिस मार्ग पर लाल चिह्न चलता था, उसी पर एक बार एक छोटा काला चिह्न भी चलता हुआ दिखलाई पड़ा था। यह लाल चिह्न से अधिक शीघ्रगामी था। जिस समय यह देखा गया था, उस समय यह लाल चिह्न के पीछे था। ज्योतिषियों ने पहले सोचा था कि काला चिह्न लाल के ऊपर से या नीचे से होकर निकलेगा, जिससे पता चल जायगा कि लाल चिह्न अन्य चिह्नों से ऊँचा है या नीचा। परंतु काला चिह्न अपने मार्ग से विचलित हो लाल चिह्न की बगल से होकर निकल गया। फिर, १६०१ से लेकर कई वर्षों तक लाल चिह्न के दक्षिण की ओर एक साँवले रंग का विस्तृत धब्बा दिखलाई पड़ता रहा। यह भी लाल चिह्न से अधिक शीघ्रगामी था; इसका वेग लाल चिह्न की अपेक्षा १६ मील प्रति घंटा अधिक था। यह जब कभी लाल चिह्न तक पहुँचता था तो अपने मार्ग से हट, लाल चिह्न की बगल से होकर, आगे जाता था और फिर अपना सीधा रास्ता पकड़ लेता था। ऐसे अवसरों पर लाल चिह्न हज़ारों मील आगे घसीट जाता था और फिर जब साँवला चिह्न बहुत आगे बढ़ जाता था तो लाल चिह्न अपने स्थान पर लौट आता था।
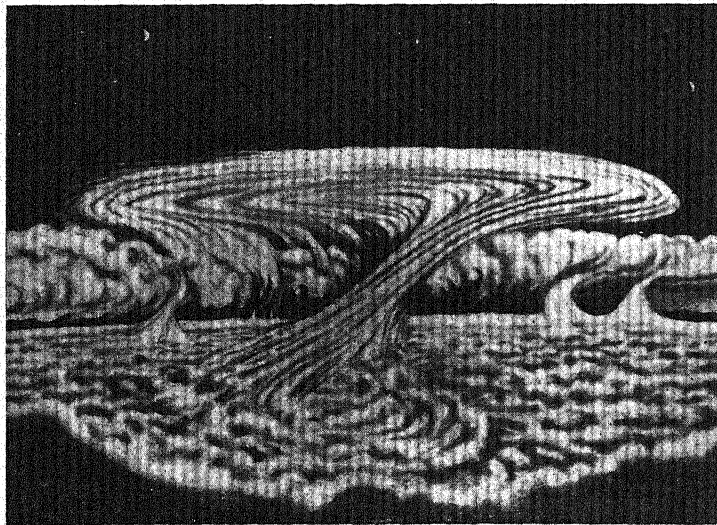
अनुमान किया जाता है कि 'बृहत् रक्त-चिह्न' बृहस्पति के घने वायुमण्डल को भेदकर उसके ऊपर उमड़ निकलनेवाले गैसीय तत्त्वों का ३० हज़ार मील लंबा और ७ हज़ार मील चौड़ा एक अंधड़ जैसा होगा जैसो कि चित्र में कल्पना की गई है।

चिह्नों की गतियों से स्पष्ट है कि ये चिह्न बृहस्पति की ठोस सतह पर ठोस वस्तु नहीं हैं।

भीतरी बनावट

बृहस्पति का घनत्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह पानी से थोड़ा ही भारी है। इसलिए लोगों का अनुमान था कि यह सूर्य के समान घनी गैसों से बना होगा। इसके बृहद् आकार से लोग अनुमान करते थे कि यह अभी काफ़ी ठंढा न हो पाया होगा। इसका समर्थन वे इस बात से करते थे कि इसकी चमक मंगल आदि ग्रहों से अधिक है और इसलिए वे समझते थे कि अवश्य यह इतना गरम होगा कि उसमें निजी चमक भी होगी। परंतु पीछे के वेधों से पता चला कि ये अनुमान सब ग़लत हैं। बृहस्पति का तापक्रम नापा गया है। वह बेहद ठंढा है। उसकी अधिक चमक का केवल एक ही यह कारण हो सकता है कि बृहस्पति अत्यंत चमकीले बादलों से ढका है। वस्तुतः बृहस्पति इतना ठंढा है कि वहाँ पानीवाले बादल रह ही नहीं सकते। पानी स्वयं वहाँ नहीं रह सकता, जमकर बर्फ़ हो जायगा। इसलिए अनुमान किया जाता है कि वहाँ के बादल जमे हुए कारबन द्वि-ओषिद् (कारबन डाइऑक्साइड) या इसी प्रकार की किसी अन्य गैस के होंगे। कारबन डाइऑक्साइड वही गैस है जो सोडावाटर की बोतल खोलने पर निकलती है और कलकत्ता, बंबई आदि बड़े शहरों में जमाकर 'ड्राइ आइस' (dry ice) अर्थात् सूखी बर्फ़ के नाम से बिकती है। वर्तमान ज्योतिषियों का अनुमान है कि बृहस्पति के बादल अवश्य ही किसी ऐसी गैस के होंगे जो लगभग कारबन डाइ-ऑक्साइड के जमने के तापक्रम पर जम जाती है या तरल हो जाती है और जो ठंढक के थोड़ा-सा ही कम होने पर उबलने लगती है। एक सिद्धांत के अनुसार बृहस्पति का भीतरी भाग ठोस पाषाण है, ऊपर से बर्फ़ की गहरी तह है और सबसे ऊपर विस्तृत वायुमंडल है, जिसमें ऐसी गैसों के बादल हैं जो ठंढक पाकर अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से जम जाती हैं या तरल हो जाती हैं। धारियाँ और धब्बे इन्हीं बादलों के भेद हैं। इस सिद्धांत से बृहस्पति का कम तापक्रम, कम
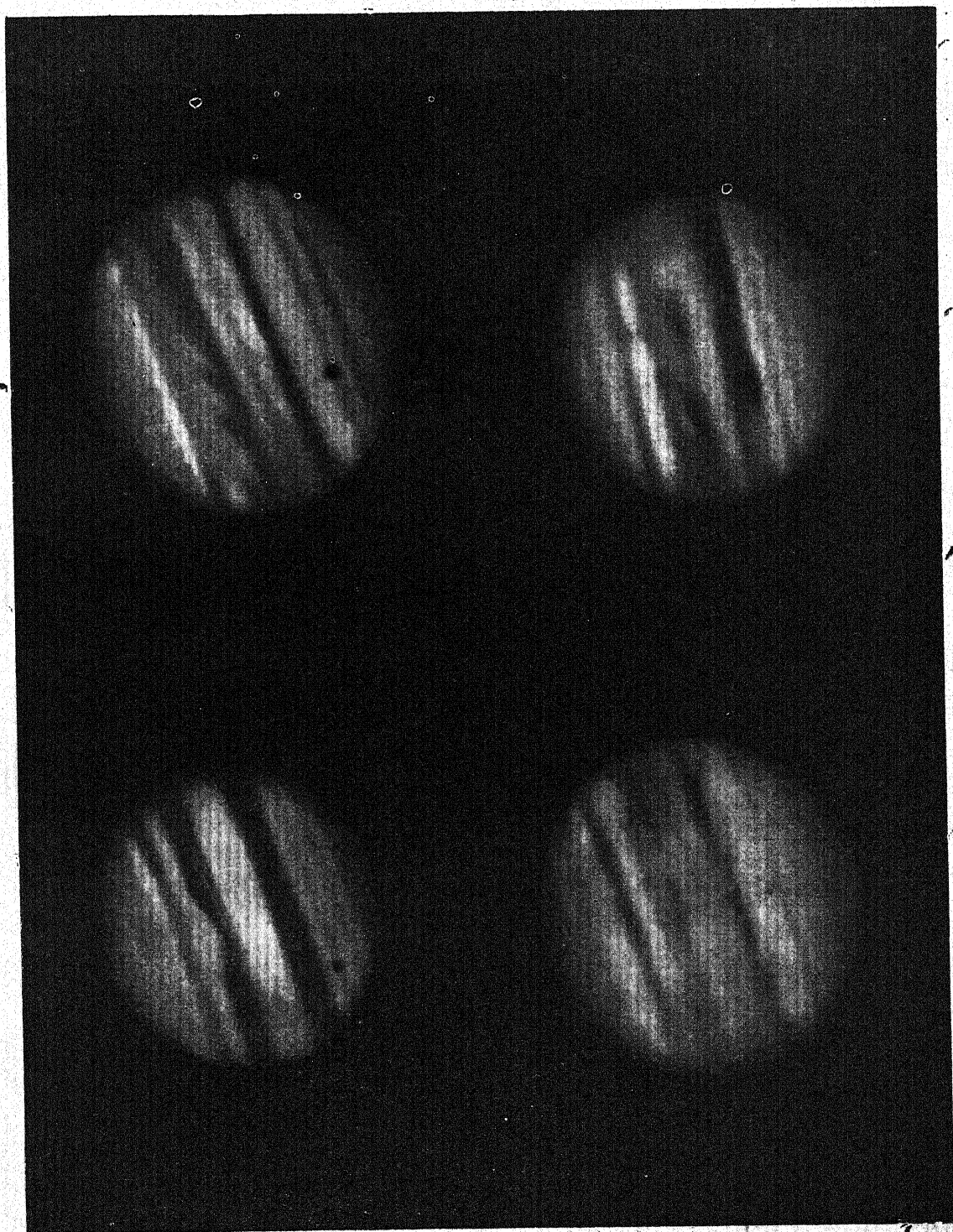
बृहस्पति के चार विभिन्न तिथियों के फ़ोटो—काला गोल चिह्न एक उपग्रह की बृहस्पति पर पड़ रही छाया है। [फ़ो०—'माउण्ट विल्सन वेधशाला'।]
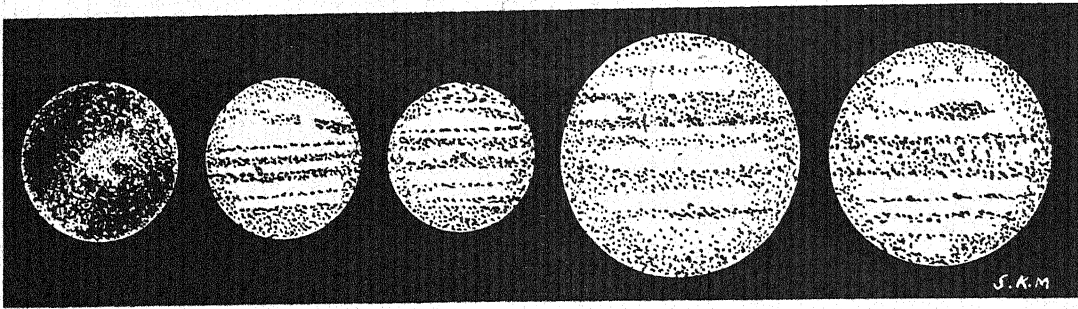
बृहस्पति के चार बड़े उपग्रहों के आकार की चंद्रमा से तुलना
बाईं ओर सबसे पहला पिंड चंद्रमा का आकार सूचित करता है, शेष पिंड बृहस्पति के चार प्रधान उपग्रहों के हैं।

घनत्व, अधिक चमक आदि सभी ज्ञात बातें समझ में आ जाती हैं।

बृहस्पति सूर्य से इतना दूर है कि पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ केवल ४ प्रतिशत ही गरमी पहुँच पाती होगी। वहाँ से सूर्य बहुत छोटा और विवर्ण दिखलाई पड़ता होगा।

उपग्रह

पृथ्वी के एक उपग्रह—चंद्रमा—है, और मंगल के दो। परंतु बृहस्पति के चार बड़े उपग्रह हैं और पाँच छोटे। इस प्रकार कुल मिलाकर बृहस्पति के ९ उपग्रह हैं। चार बड़े उपग्रह वस्तुतः हमारे चंद्रमा के बराबर या उससे कुछ बड़े हैं, परंतु दूरी अधिक होने के कारण कोरी आँख से वे देखे नहीं जा सकते। वे दूरबीन से आसानी से देखे जा सकते हैं, चाहे दूरबीन छोटी ही क्यों न हो। तीक्ष्ण दृष्टि-वाले तो अनुकूल अवसरों पर कोरी आँख से ही उपग्रहों के अस्तित्व का पता पा सके हैं। अनुकूल अवसर तब होता है जब तीसरे और चौथे उपग्रह प्रायः एक ही साथ रहते हैं और तीसरा उपग्रह बृहस्पति से महत्तम दूरी पर रहता है। ऐसी दशा में दोनों उपग्रह मिलकर एक नन्हे-से तारे के समान देखे जा सके हैं। कभी-कभी चार उपग्रह कोरी आँख से दो उपग्रह के समान भी देखे गए हैं। रूसी यात्री रैंगल ने लिखा है कि उससे एक शिकारी से मुलाक़ात हुई थी जिसने बृहस्पति को दिखलाकर बतलाया कि मैंने अभी उस बड़े तारे को एक दूसरे छोटे तारे को निगलते देखा और थोड़े समय बाद उसने उस तारे को दूसरी ओर उगल भी दिया।

बृहस्पति के समीपवाले उपग्रह को प्रथम उपग्रह कहते हैं, इसके बादवाले को द्वितीय उपग्रह। फिर तृतीय उपग्रह की पारी आती है। यही सबसे बड़ा है।

बृहस्पति बहुत बड़ा है और प्रथम तीन उपग्रहों की कक्षाएँ बहुत तिरछी नहीं हैं। इसलिए प्रत्येक चक्कर में ये उपग्रह बृहस्पति की छाया में पड़ जाते हैं। इस प्रकार इन उपग्रहों का ग्रहण प्रत्येक चक्कर में एक बार लगता है। केवल चौथा उपग्रह कभी-कभी बच जाता है। उपग्रहों की अधिक संख्या और उनमें प्रायः प्रत्येक बार ग्रहण लगने के कारण बृहस्पति पर ख़ूब ग्रहण दिखलाई पड़ते होंगे। गणना से पता चलता है कि बृहस्पति पर वहाँ के एक वर्ष में सूर्य और चार चंद्रमाओं के ग्रहणों की संख्या ४५०० से कम न होगी!

जब कोई उपग्रह बृहस्पति और हमारे बीच में आ जाता है, तब उसकी परछाईं बृहस्पति के बिंब पर स्पष्ट पड़ती है। उपग्रह स्वयं इतना स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, क्योंकि उपग्रहों और बृहस्पति की चमकों में बहुत अंतर नहीं है, परंतु उपग्रह की परछाईं काली दिखलाई पड़ती है। हाँ, यदि सूर्य ठीक हमारे पीछे हो तो परछाईं उपग्रह के ठीक पीछे पड़ेगी और इसलिए देखी न जा सकेगी।

जो उपग्रह बृहस्पति के सबसे अधिक निकट है, उसके संबंध में कुछ विचित्र बातें देखी गई हैं। कभी-कभी वह लंबा दिखलाई पड़ता है और कभी-कभी दो बिंदु-सरीखा। इसका वास्तविक कारण अमेरिका के ज्योतिषी बारनार्ड ने बतलाया। उसने कहा कि इस उपग्रह का बिम्ब सर्वत्र एक रंग का नहीं है। इसके ध्रुवप्रदेश साँवले रंग के हैं और कटिप्रदेश सफ़ेद रंग का। जब यह उपग्रह बृहस्पति के साँवले भाग के सामने पड़ता है तब उपग्रह के ध्रुवप्रदेश साँवली ज़मीन में मिलकर छिप जाते हैं। उस समय हमें उपग्रह का केवल कटिप्रदेश दिखलाई पड़ता है जो लंबा है। इसलिए उस समय उपग्रह हमें लंबा-सा दिखलाई पड़ता है। परंतु जब उपग्रह बृहस्पति के सफ़ेद भाग के सामने रहता है, उस समय उपग्रह का कटिप्रदेश ज़मीन में मिल

जाता है और इसलिए दिखलाई नहीं पड़ता। उस समय उपग्रह के ध्रुवप्रदेश ही, साँवले होने के कारण, सफ़ेद ज़मीन पर दो विंदु-सरीखे दिखलाई पड़ते हैं। वस्तुतः यह उपग्रह भी औरों की तरह गोल है, केवल भ्रमवश कभी लंबा और कभी दो विंदु-सरीखा दिखलाई पड़ता है।

चार बड़े उपग्रहों को पहले-पहल गैलीलियो ने देखा था। गैलीलियो ने ही दूरदर्शक का आविष्कार किया था। उसे दूरदर्शक से बृहस्पति के चार उपग्रह सहज ही में दिखलाई पड़ गए। पाँचवें उपग्रह का पता बहुत वर्ष बाद बारनार्ड को लगा। यह इतना छोटा और बृहस्पति के इतना समीप है कि बहुत बड़े दूरदर्शकों में ही, सो भी कठिनाई से, दिखलाई पड़ता है। शेष उपग्रह बृहस्पति से दूर हैं और इतने छोटे हैं कि उनका पता केवल फ़ोटोग्राफ़ी से लगता है। तेज़ प्लेट पर घंटों का प्रकाश-दर्शन देने से उनके मंद प्रकाश का एकत्रित प्रभाव बस इतना हो जाता है कि उनका चित्र विंदु-सरीखा उतर आए। इन उपग्रहों का पता इतनी कठिनाई से लगा है कि संभव है कि अधिक तेज़ प्लेट या बड़े दूरदर्शक के बनने पर एक-दो अन्य उपग्रहों का भी पता चले।

बृहस्पति के दो अंतिम उपग्रहों में यह विशेषता है कि वे उलटी दिशा में चलते हैं। ध्रुवतारा से देखने पर सब ग्रह और बृहस्पति के शेष सातों उपग्रह घड़ी की सुइयों की विपरीत दिशा में घूमते दिखलाई पड़ेंगे, परंतु अंतिम दोनों उपग्रह घड़ी की सुइयों की दिशा में चलते दिखलाई पड़ेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि ग्रह आदि हमारे सूर्य से ही निकले हैं, तब तो सब ग्रहों और उपग्रहों को एक ही दिशा में चलना चाहिए था। इसलिए संदेह किया जाता है कि अंतिम दो ग्रह संभवतः कोई अवांतर ग्रह हैं जो बृहस्पति के आकर्षण से फँस आए हैं। और यदि बात ऐसी ही है तो प्रश्न उठता है कि क्या ये दो उपग्रह कभी बृहस्पति के आकर्षण से भागकर निकल भी सकते हैं? केवल गणित ही इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, परंतु ठीक हिसाब लगाना कठिन है। जहाँ तक पता चलता है, इस बात का डर नहीं जान पड़ता कि ये उपग्रह निकल भागेंगे।

उपग्रहों के हज़ारों ग्रहणों के वेध और सूक्ष्म गणना से पता चला है कि बृहस्पति का आकार स्थायी नहीं है। वह अपने मध्यम आकार से कभी १०० मील तक छोटा, कभी बड़ा हो जाता है।
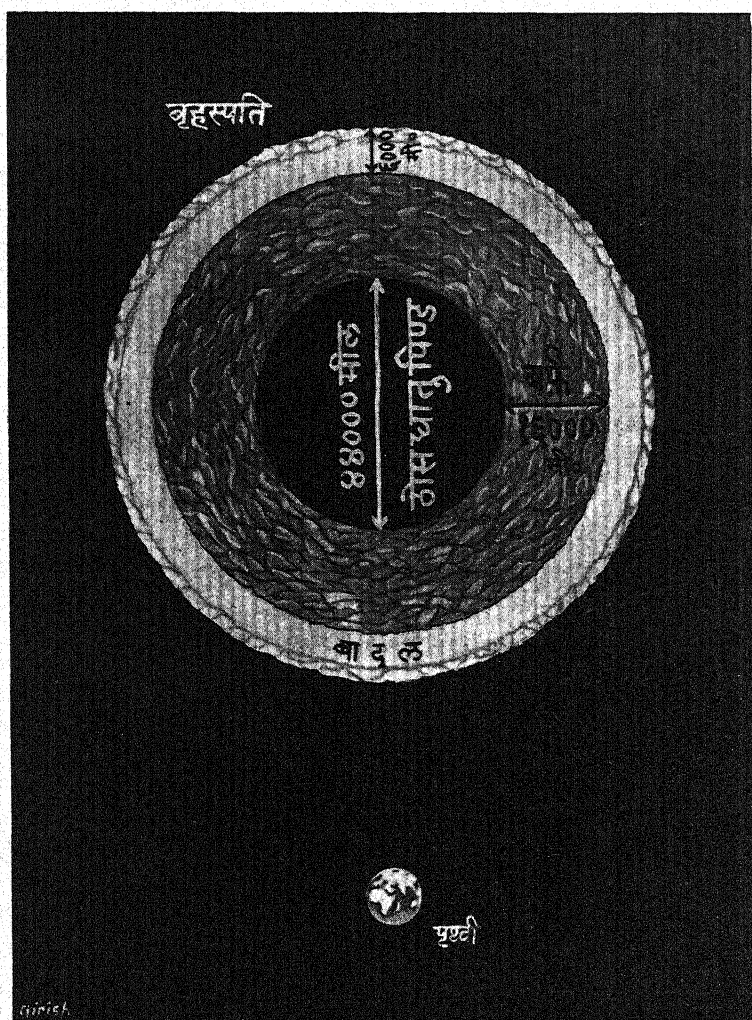
बृहस्पति की बनावट

बृहस्पति को बीच में से नारंगी की तरह काटकर उसकी भीतरी रचना समझाई गई है। तुलना के लिए उसी पैमाने पर पृथ्वी भी दी गई है।
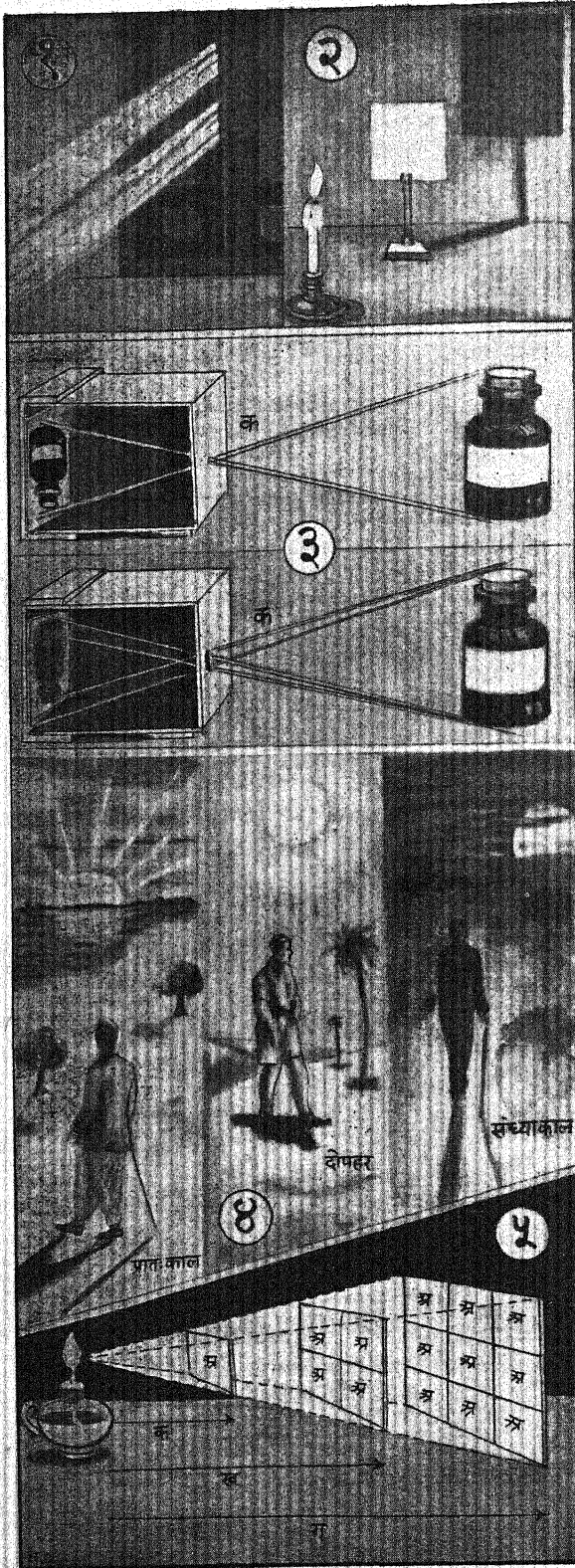
१—बंद खिड़की या दरवाज़े की दरार से जब अँधेरे कमरे में सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं तो धूलिकणों के कारण चमकता हुआ उनका सीधी रेखावाला मार्ग एकदम स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

२—किसी भी दीपक की आड़ में किसी वस्तु को रखने पर उसकी छाया उसी आकार की पड़ती है, जो उस वस्तु का होता है। चौकोर तख़्ती की छाया भी चौकोर पड़ रही है, यद्यपि वह परिवर्द्धित है।

३—सूक्ष्मछिद्र केमरा। ऊपर के चित्र में 'क' पर एक ही सूक्ष्म छिद्र है जिससे होकर सामने रक्खी दावात की उल्टी छाया केमरा के भीतर की दीवाल पर लगी प्लेट पर स्पष्ट पड़ रही है। नीचे के चित्र में 'क' पर छिद्र चौड़ा है इसलिए छाया धुँधली पड़ रही है।

४—प्रातःकाल, दोपहर और शाम को सूर्य के कारण पड़नेवाली छाया की विभिन्नता।

५—आलोक की तीव्रता दूरी के वर्ग के विलोम-नियम के अनुसार घटती है (दे० पृ० १४२१ का मैटर)। 'क', 'ख', 'ग' क्रमशः १, २, और ३ फ़ीट की दूरी के सूचक हैं।

आलोक-रश्मियाँ

शक्ति के एक रूप 'ताप' का पिछले कुछ लेखों में आपको परिचय दिया जा चुका है। इसके बाद अब हमारा ध्यान 'आलोक' की ओर जाता है। इस और आगे के कुछ लेखों में हम भौतिक विज्ञान के इसी महत्त्व-पूर्ण विषय की जानकारी पाने की कोशिश करेंगे।

आज से हज़ारों वर्ष पूर्व भी लोग आलोक के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुए थे। आलोक है क्या? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के प्रयत्न में तरह-तरह के अनुमान तत्कालीन विद्वानों ने लगाए। लगभग २३०० वर्ष पूर्व सिकन्दरिया के महान् गणितज्ञ उक्लैदिस ने इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया। उसकी धारणा थी कि आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों से विकीर्ण होकर जब भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर पड़ती हैं तभी ये वस्तुएँ हमें दृष्टि-गोचर होती हैं। उसका कहना था कि जिस प्रकार झींगुर आदि कतिपय कीड़े-मकोड़े अपने शरीर पर लगी हुई लम्बी-लम्बी पतली सूँड़ द्वारा छूकर अपने आस-पास की वस्तुओं की आहट पा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आँखों से विकीर्ण होनेवाली आलोक-रश्मियों द्वारा अपने आस-पास की चीज़ों को देखने में समर्थ होता है।

इसके प्रतिकूल प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथागोरस का ख़याल था कि प्रत्येक आलोकमय वस्तु से आलोक के नन्हें-नन्हें भौतिक कणों की बौछार प्रति क्षण हर दिशा में निकलती रहती है। आलोक के ये कण जब हमारी आँखों में प्रवेश करते हैं तब हमें उस वस्तु का, जहाँ से ये आलोक-कण आरम्भ में चले थे, बोध होता है अर्थात् वह वस्तु हमें दिखलाई पड़ती है।

अरस्तू या अरिस्टॉटल
जिसका मत था कि आलोक एक विस्तृत माध्यम में, जो सर्वत्र मौजूद है, तरंगों के रूप में चारों ओर विकीर्ण होता है।

अरस्तू का मत था कि आलोक कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न पदार्थों से चलकर आलोक के भौतिक कणों की बौछार हमारी आँखों में पहुँचती है, यह ख़याल सर्वथा ग़लत है। अरस्तू का कहना था कि एक विस्तृत माध्यम में, जो सर्वत्र मौजूद है, तरंगों के रूप में आलोक चारों ओर विकीर्ण होता है। निस्सन्देह यह कम आश्चर्य्य की बात नहीं है कि आज से २००० वर्ष पूर्व बिना किसी प्रयोगात्मक आधार के अरस्तू ने जो मत आलोक की वास्तविकता के बारे में निर्धारित किया था, वह इस बीसवीं शताब्दी में प्रयोग की कसौटी पर कसे जाने पर एकदम सही उतरा! हम आलोक की प्रकृति के बारे में आधुनिक मत की विवेचना किसी अगले अध्याय में करेंगे, अभी तो हमें आलोक के साधारण गुणों का ही परिचय प्राप्त करना है।

बन्द खिड़की की दरार से सूर्य की किरणें जब अँधेरे कमरे में प्रवेश करती हैं, तो उनका चमकता हुआ सीधी रेखावाला मार्ग एकदम स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वास्तव में स्वयं आलोक-रश्मियों को हम नहीं देख पाते।

किन्तु कमरे के अन्दर हवा में उड़ते हुए सहस्त्रों धूलिकण आलोक-रश्मि के मार्ग में आते ही चमकने लगते हैं—अतः आलोक-रश्मि का समूचा मार्ग ही आलोकित हो उठता है।

इस सम्बन्ध में एक और प्रयोग किया जा सकता है। दफ़्ती के कई टुकड़े लीजिए। प्रत्येक के बीच में एक-एक बारीक छिद्र बना लीजिए। इन दफ़्तियों को जलती हुई एक मोमबत्ती के सामने एक के पीछे दूसरी खड़ी कर दीजिए। यदि सभी दफ़्तियों के छिद्र एक सीधी रेखा में हुए तब तो आपको इनमें से होकर मोमबत्ती की लौ दिखलाई पड़ेगी अन्यथा नहीं। इन दोनों प्रयोगों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आलोक का गमन केवल सीधी रेखाओं में हो सकता है। सीधे मार्ग से ये तनिक भी इधर-उधर मुड़ नहीं सकतीं।

आलोक की इस विशेषता से लाभ उठाकर वैज्ञानिकों ने फ़ोटो उतारने का एक नितान्त सरल केमरा भी तैयार किया है। इस केमरे में किसी लेन्स को फ़िट करने की आवश्यकता नहीं होती। इस बक्सनुमा केमरे में सामने की दीवाल में सुई की नोक के बराबर एक सूराख़ होता है और इस छिद्र के पीछेवाली दीवाल में एक खाँचा बना होता है। इसी खाँचे के रास्ते से फ़ोटो की चेतनशील प्लेट को बक्स के अन्दर प्रवेश कराकर उसे दीवाल के समानान्तर खड़ी कर देते हैं। बाहर से आलोक-रश्मियाँ उसी नन्हें छिद्र के रास्ते केमरे के अन्दर प्रवेश करती हैं और तब बाहर की वस्तुओं का उल्टा बिम्ब उस फ़ोटो प्लेट पर पड़ता है। इस सूक्ष्म छिद्रवाले केमरे के अन्दर प्रवेश करते समय ये आलोक-रश्मियाँ छिद्र पर ही एक-दूसरे को काटती हैं, अतः वे अपने उद्गमस्थान की वस्तुओं का उलटा बिम्ब प्लेट पर बनाती हैं। केमरे के अन्दर प्लेट छिद्र से जितनी दूर होगी बिम्ब का आकार भी उतना ही बड़ा होगा। इस बात से भी यही सिद्ध होता है कि आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं में ही चलती हैं।

सूक्ष्म छिद्रवाले केमरे में बिम्ब एकदम स्पष्ट उभरता है, उतना ही स्पष्ट जितना कि महँगे दाम के लेन्सयुक्त केमरे के अन्दर। किन्तु लेन्सयुक्त केमरे के अन्दर का बिम्ब अधिक आलोकमय होता है, क्योंकि लेन्स का मुँह चौड़ा होने के कारण बाहर से प्रकाश की मात्रा भी अधिक परिमाण में केमरे के अन्दर पहुँचती है। छिद्रवाले केमरे में नन्हें छिद्र में से होकर बहुत कम आलोक केमरे के अन्दर प्रवेश कर पाता है।

आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं में ही चलती हैं

इस चित्र में जंगी जहाज़ों द्वारा सर्चलाइटों की रोशनी के प्रदर्शन का दृश्य है। भिन्न-भिन्न सर्चलाइटों से निकले हुए आलोक-रश्मि-पुंज आड़े-तिरछे एक-दूसरे को काटते हुए आसमान में एकदम सीधी दिशा में जाते हुए दिखाई पड़ रहे हैं।
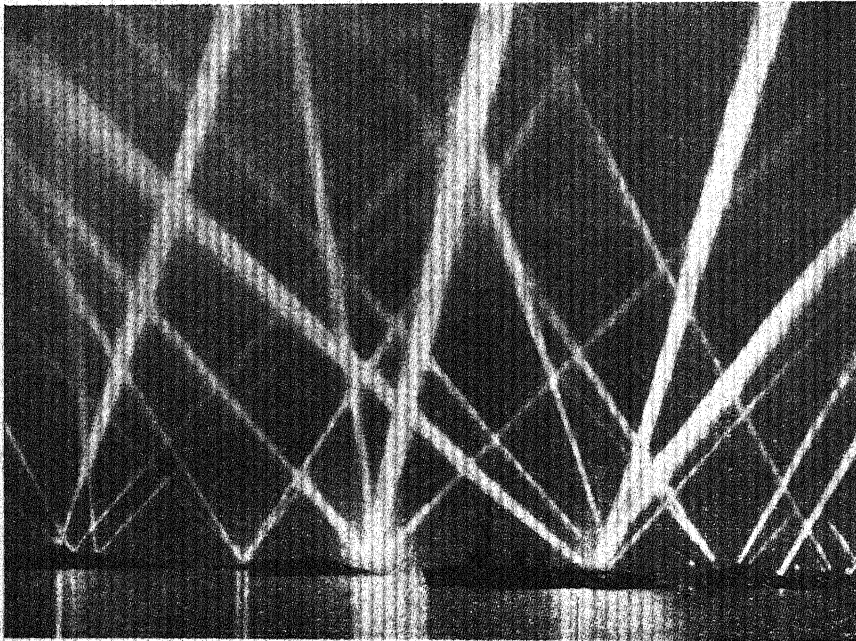
बिम्ब का आलोक बढ़ाने के उद्योग में हम पहले छिद्र के पास ही यदि दूसरा छिद्र बना दें तो इस छिद्र के कारण भी एक दूसरा बिम्ब पहले बिम्ब पर ही उससे तनिक-सा एक ओर हटकर बनेगा। फलस्वरूप इस प्रकार बने बिम्ब में पहले की अपेक्षा प्रकाश की मात्रा तो अधिक होगी, किन्तु यह उतना स्पष्ट न होगा। यदि छिद्रों की संख्या बढ़ा दी जाय तो इनके योग से बने हुए बिम्ब में आलोक

बढ़ जायगा, किन्तु उसी अनुपात में उनकी स्पष्टता भी मारी जायगी। बड़े आकारवाले सूराख़ को हम अनेक सूक्ष्म छिद्रों से बना हुआ मान सकते हैं। अतः ऐसे छिद्र द्वारा बना हुआ बिम्ब भी अस्पष्ट ही होगा। और यदि छिद्र का आकार काफ़ी बड़ा हुआ तो बिम्ब इतना अधिक अस्पष्ट हो जायगा कि बिम्ब के स्थान पर प्रकाश का केवल एक हलका-सा धब्बा ही नज़र आएगा, चित्र नहीं।

चंद्रग्रहण के समय पड़नेवाली पृथ्वी की 'प्रच्छाया' और 'उपच्छाया'
पूर्णिमा के दिन जब कभी चंद्रमा मौक़े से पृथ्वी के छायाकोण में प्रवेश करता है तभी चंद्रग्रहण होता है। 'प्रच्छाया' और 'उपच्छाया' का सिद्धान्त इसी चित्र के निचले कोने में लैंप के सामने तख़्ती रखकर किए जाने वाले प्रयोग द्वारा समझाया गया है।

लालटेन के सामने एक तख़्ती खड़ी कर दीजिए—बस तख़्ती की आड़ में अँधेरा-ही-अँधेरा नज़र आएगा, क्योंकि आलोक-रश्मियाँ मुड़कर तख़्ती की आड़ में पड़नेवाली जगह तक नहीं पहुँच सकतीं। फिर आपने ग़ौर किया होगा कि प्रातःकाल की धूप में ज़मीन पर आपकी छाया बेहद लम्बी दिखलाई पड़ती है। ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊपर चढ़ता जाता है, आपकी छाया भी छोटी पड़ती जाती है। संध्या को सूर्य जब नीचे उतरता है, तब आपकी छाया पुनः लम्बी हो जाती है। प्रातःकाल की छाया पश्चिम की ओर और सन्ध्या को पूर्व दिशा में पड़ती है। हर हालत में आप देखेंगे कि छाया ठोस पदार्थ के पीछे तथा प्रकाशोत्पादक के दूसरी ओर ही पड़ती है।

यदि प्रकाशोत्पादक का आकार कुछ अधिक बड़ा नहीं हुआ तो इसके द्वारा प्रक्षालित छाया भी स्पष्ट और गहरी उभरती है और यह छाया एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक समान रूप से काली होती है। ऐसी छाया की सीमान्तक रेखाएँ भी स्पष्ट दीखती हैं।

इसके प्रतिकूल यदि प्रकाशोत्पादक का आकार बड़ा हुआ तो इसके द्वारा प्रक्षालित ठोस वस्तुओं की छाया का समूचा भाग न तो समान रूप से काला होगा और न उसकी सीमान्तक रेखाएँ ही स्पष्ट उभरेंगी। ऐसी छाया के मध्य-भाग में प्रकाशोत्पादक के किसी अंग से भी आलोक नहीं पहुँचने पाता। फलस्वरूप छाया का यह भाग निपट काला होता है। इसे 'प्रच्छाया' के नाम से पुकारते हैं। प्रच्छाया के दोनों ओर छाया का वह भाग स्थित होता है जिसमें प्रकाशोत्पादक के समूचे अंग से तो नहीं, किन्तु उसके कुछ भाग से आलोक अवश्य पहुँचता है। अतः यह छाया उतनी गाढ़ी नहीं होती जितनी प्रच्छाया। इसे 'उपच्छाया' (अर्द्धछाया) के नाम से पुकारते हैं।

चन्द्रमा और पृथ्वी दोनों ही सूर्य्य के प्रकाश से आलोकित होते हैं। अतः दोनों ही के पीछे लम्बी प्रच्छाया और उपच्छाया पड़ती हैं। पूर्णिमा के दिन जब चन्द्रमा पृथ्वी के छायाकोण में प्रवेश करता है तो पूनों के चाँद पर पृथ्वी की काली छाया पड़ती है। फलस्वरूप चन्द्रमा का धरातल भी आंशिक या पूर्ण रूप से आलोकविहीन हो जाता है और हमें ग्रहण दिखाई पड़ता है। केवल पूर्णिमा की रात को ही चन्द्रग्रहण का लगना सम्भव हो सकता है और इस अवसर पर पृथ्वी के तमाम उस भाग में जहाँ रात होगी, चन्द्रग्रहण दिखलाई पड़ेगा। कुछ ही घण्टों में अपनी कक्षा पर परिभ्रमण करता हुआ चन्द्रमा जब इस छाया से बाहर निकल जाता है तो ग्रहण भी समाप्त हो जाता है—चन्द्रमा पुनः सूर्य्य के आलोक में आ जाता है।

अमावस्या के दिन चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य्य के बीच आ जाता है, और तब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती

है। अपने भ्रमण-मार्ग पर ज्यों-ज्यों चन्द्रमा आगे बढ़ता है, यह छाया भी पृथ्वीतल पर तेज़ी के साथ आगे बढ़ती है। इस छायामार्ग में पृथ्वी के जो प्रान्त आते जाते हैं उन तक सूर्य्य का प्रकाश पहुँचने में असमर्थ होता है। अतएव इन स्थानों पर सूर्य्य का पूर्ण ग्रहण दिखलाई पड़ता है। इस प्रदेश के दोनों ओर कुछ दूर तक के प्रान्त चन्द्रमा की उपच्छाया में पड़ते हैं, इन स्थानों पर केवल आंशिक सूर्य्यग्रहण दिखाई देता है।

चन्द्रमा का परिभ्रमण-मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। अतः कभी-कभी चन्द्रमा पृथ्वी से बहुत दूर भी चला जाता है। ऐसी दशा में सूर्य्य द्वारा प्रक्षालित अमावस्या के चन्द्रमा की छाया पृथ्वी तक पहुँच भी नहीं पाती। फलस्वरूप चन्द्रमा समूचे सूर्य्य को ढकने में असमर्थ होता है और हमें कुण्डलाकार सूर्य्य के दर्शन होते हैं। उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानों काले वृत्त के चारों ओर चाँदी का एक छल्ला चढ़ा दिया गया हो। जिस समय चन्द्रमा अपनी कक्षा में पृथ्वी से दूर स्थित होता है उस समय यह हमसे २५२६७० मील के फ़ासले पर होता है। किन्तु इसकी छाया केवल २३८००० मील लम्बी होती है, अतः यह छाया पृथ्वी को छू नहीं पाती।

इस स्थान पर अवश्य ही प्रश्न उठता है कि हर पूर्णिमा और हर अमावस्या को क्रम से चन्द्र और सूर्य्य के ग्रहण क्यों नहीं लगते? किन्तु ऐसा होना तभी सम्भव था जब कि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों के परिभ्रमण-मार्ग का धरातल एक ही होता। वास्तव में ये दोनों ही भिन्न-भिन्न धरातल में भ्रमण करते हैं। जब कभी पूर्णिमा या अमावस्या के दिन चन्द्रमा का परिभ्रमण-मार्ग पृथ्वी की कक्षा के धरातल से होकर गुज़रता है तभी चन्द्रग्रहण या सूर्य्यग्रहण के हमें दर्शन होते हैं।

आलोक-रश्मियाँ प्रकाशपिण्ड के किसी बिन्दु से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों उनके बीच की दूरी बढ़ती जाती है। वे फैलती जाती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कोण की भुजाएँ बढ़ाई जाने पर उत्तरोत्तर एक दूसरे से दूर हटती जाती हैं। इसका फल यह होता है कि किरणपुंज प्रकाशोत्पादक से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उतने ही प्रकाश को अधिक क्षेत्रफलवाले धरातल को आलोकित करना पड़ता है। जैसा कि पृ० १४१६ के नं० ५ चित्र से प्रगट है, प्रकाशोत्पादक से १ फ़ुट की दूरी पर जितना प्रकाश धरातल 'अ' को आलोकित कर रहा है उतना ही प्रकाश २ फ़ीट की दूरी पर रक्खे हुए दूसरे धरातल को आलोकित कर रहा है। किन्तु इस दूसरे
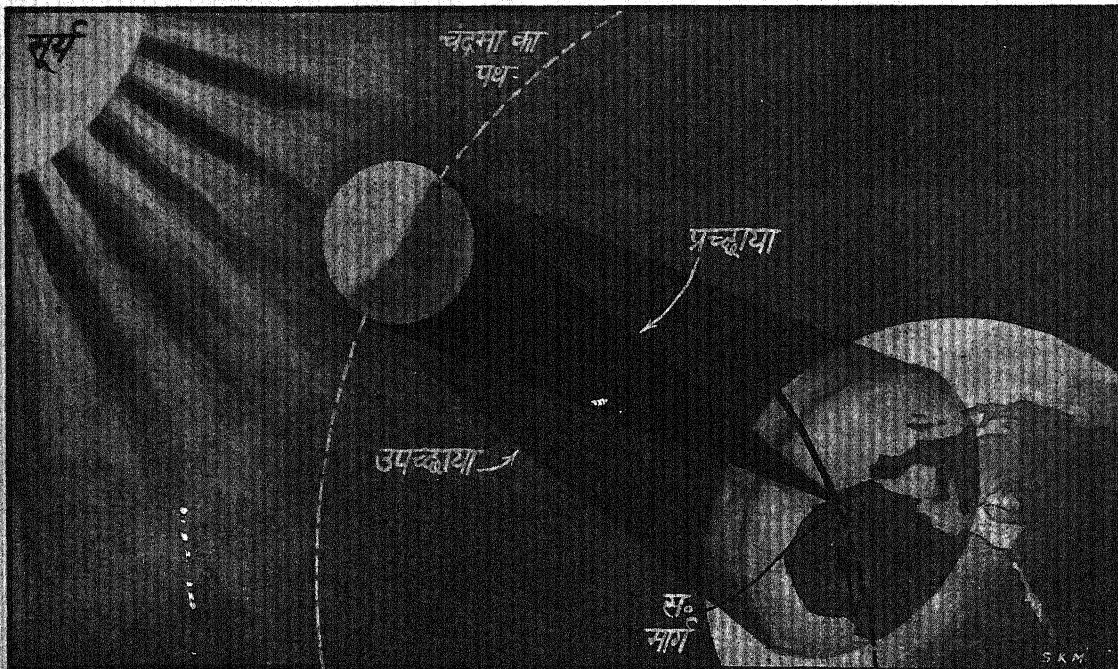
सूर्य-ग्रहण के समय चंद्रमा की प्रच्छाया और उपच्छाया तथा सर्व-सूर्यग्रहण का मार्ग

इससे भी यही सिद्ध होता है कि आलोक-रश्मियाँ सदैव सीधी रेखाओं में ही चलती हैं।

धरातल का क्षेत्रफल प्रथम का चार गुना है । अतः दूसरे धरातल पर पहले की अपेक्षा प्रकाश की तीव्रता केवल एक चतुर्थांश रहेगी। तीन फ़ीट की दूरी पर उसी प्रकाश को नौगुने धरातल को आलोकित करना होगा। अतः प्रकाश की तीव्रता इस ठौर अब पहले की अपेक्षा नवांश रह जायगी। यह नियम दूरी के वर्ग का विलोम नियम कहलाता है। दूरी ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, प्रकाश की तीव्रता उसके वर्ग के अनुसार घटती जायगी। दूरी यदि चार गुनी होगी तो आलोक की तीव्रता पहले का सोलहवाँ अंश रह जायगी; दूरी यदि आठ गुनी हुई तो आलोक की तीव्रता पहले का चौंसठवाँ अंश रह जायगी।
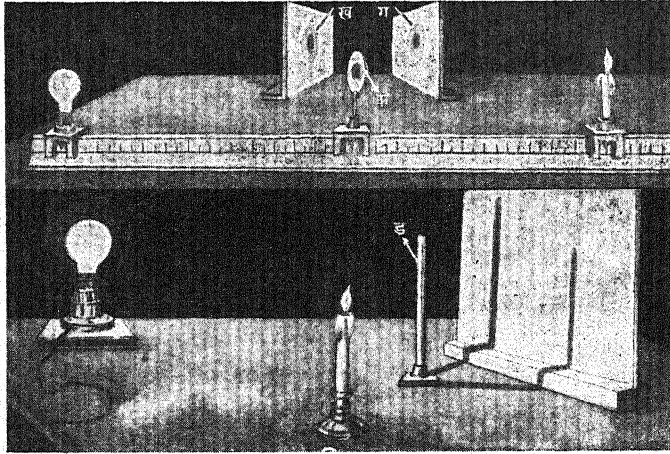
दो प्रकार के फ़ोटोमीटर (दे० इसी पृष्ठ का मैटर)

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर ही फ़ोटोमीटर यंत्र बनाये गये हैं, जिनकी सहायता से हम आँक सकते हैं कि अमुक प्रकाशोत्पादक के आलोक की तीव्रता कितनी है। अवश्य ही आलोक की तीव्रता नापने के लिए एक मापदण्ड की ज़रूरत होती है। स्वभावतः वैज्ञानिकों ने मोमबत्ती को मापदण्ड माना। टार्च या पेट्रोमैक्स लैम्प के आलोक को मोमबत्तियों की संख्या में ही व्यक्त करते हैं। यदि टार्च की आलोक-शक्ति ५०० कैन्डिलपावर हुई तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस टार्च से ५०० मोमबत्तियों के बराबर प्रकाश उत्पन्न होगा।

साधारणतः दो प्रकार के फ़ोटोमीटर काम में लाये जाते हैं—एक में छाया की सहायता ली जाती है और दूसरे में तेल के धब्बे से काम लेते हैं। एक सफ़ेद रंग का पर्दा अँधेरे कमरे में रखिए। पर्दे के सामने एक पेन्सिल लम्बवत् खड़ी कर दीजिए—एक मोमबत्ती भी स्टैण्ड में लगाकर कुछ दूर पर रखिए। अब उस लैम्प को भी कमरे के अन्दर ले आइए, जिसकी आलोक-शक्ति की जाँच करनी है। लैम्प और मोमबत्ती दोनों को ऐसी जगह पर रखिए कि उनके द्वारा प्रक्षालित पेन्सिल की छाया सफ़ेद पर्दे पर पड़े। लैम्प की दूरी घटा-बढ़ाकर आप पेन्सिल की दोनों छाया में समान गहराई की कालिमा ला सकते हैं। अपनी-अपनी छाया से अब मोमबत्ती और लैम्प दोनों की दूरी नाप लीजिए। लैम्प और मोमबत्ती की आलोकशक्तियों में वही अनुपात होगा जो लैम्प की दूरी के वर्ग और मोमबत्ती की दूरी के वर्ग में है। क्योंकि इस दशा में लैम्प द्वारा डाली गई छाया को मोमबत्ती से उतना ही तीव्र प्रकाश मिलता है, जितना मोमबत्तीवाली छाया को लैम्प से (दे० इसी पृष्ठ के चित्र का निचला भाग)।

तेल के धब्बेवाला फ़ोटोमीटर तैयार करने के लिए एक खुरदरे सफ़ेद काग़ज़ का टुकड़ा लेते हैं। इस काग़ज़ के बीच में एक बूँद तेल गिराकर धब्बे का एक छोटा-सा वृत्त बना लेते हैं। इस काग़ज़ को लम्बवत् खड़ा करके इसके एक ओर यदि एक मोमबत्ती रखी जाय तो उसी ओर से देखने पर धब्बा काग़ज़ के शेष भाग की अपेक्षा अधिक काला दिखाई देगा, क्योंकि धब्बे में से होकर बहुत-सा प्रकाश काग़ज़ की दूसरी ओर चला जाता है। इस ओर प्रकाश की कम मात्रा प्रक्षालित होती है। यदि काग़ज़ को दूसरी ओर से देखा जाय तो धब्बा काग़ज़ के शेष भाग की अपेक्षा अधिक आलोकित दीखेगा, क्योंकि इस भाग से अधिक मात्रा में प्रकाश छनकर आ रहा है। जिन दो प्रकाशोत्पादकों की आलोकशक्ति की तुलना करनी होती है, उनमें से एक को काग़ज़ के एक ओर, और दूसरे को दूसरी ओर रखते हैं। फिर इन दोनों की दूरी धब्बेवाले काग़ज़ से इस तरह घटाते-बढ़ाते हैं कि दोनों ओर से देखने पर धब्बा लुप्त हो जाता है। इस दशा में धब्बे से भी उतना ही प्रकाश आता है, जितना काग़ज़ के शेष धरातल से। अर्थात् उस समय काग़ज़ पर दोनों प्रकाशोत्पादकों से आये हुए आलोक की तीव्रता समान होती है। अब प्रत्येक प्रकाशोत्पादक की दूरी काग़ज़ के धरातल से नाप लेते हैं। उनकी आलोक-शक्तियों का परस्पर अनुपात वही होगा जो उनकी दूरी के वर्ग के बीच है (दे० इसी पृष्ठ के चित्र में ऊपर का भाग)।
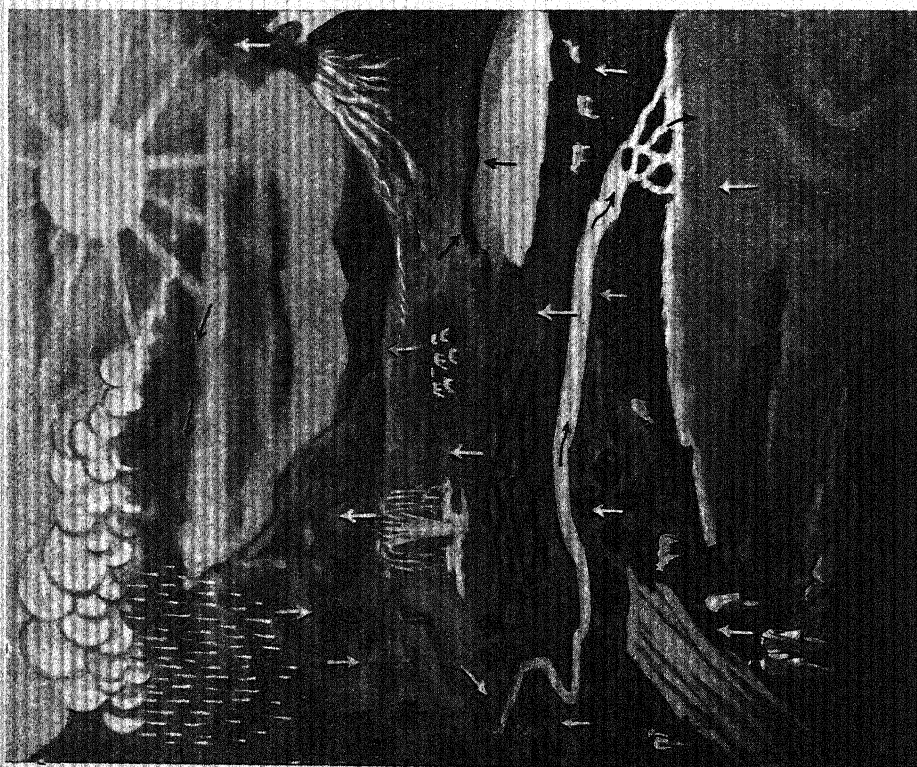
जल-चक्र

समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, ज्वालामुखी पर्वतों, वनस्पति और प्राणी के कलेवरों, आदि से निरंतर वाष्पीभूत होकर तथा आभ्यंतरिक जलाशयों से मिट्टी में चढ़कर पानी हवा में मिलता रहता है। यह जल-वाष्प घनीभूत होकर वर्षा, हिम, तुहिन आदि के रूप में फिर वहीं लौट आती है। यह जल-चक्र प्रकृति में निरंतर चला करता है।
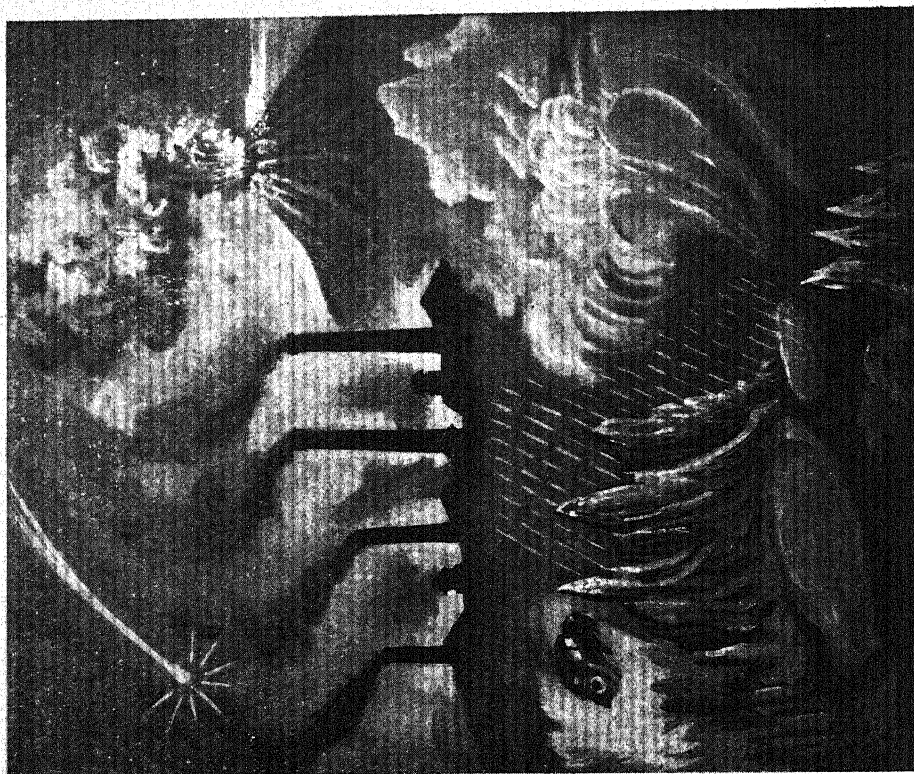
धूलि-कणों की उत्पत्ति

मौसमी कारणों द्वारा चट्टानों से धूलि-कण टूटकर फैल जाते हैं, और फिर हवा और अन्य गतिशील साधनों द्वारा वायुमण्डल में मिलते रहते हैं। इसके अलावा आग्नेय पर्वतों, उल्काओं, चिमनियों, आदि से भी धूलि-कण निकलकर हवा में व्याप्त होते रहते हैं।

हवा और उसके अद्भुत अवयव

जिस अदृश्य वायु के टनों बोझ से हम निरंतर दबे रहते हैं, जिसके बिना हमारा जीवन असंभव है और जो सदैव हमारे सुख-दुःख तथा आनन्द-कष्टों का एक महान् कारण रहती है, उसी को मनुष्य आदिकाल से लेकर अब से केवल सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले तक के लाखों वर्ष लम्बे समय में भी पहचान न पाया। न-जाने कितने काल तक वह उसे देवता समझकर उसकी आराधना करता रहा, लेकिन इसका कारण अज्ञान पर अवलंबित केवल एक कोरी कल्पना थी। वास्तव में, उस समय मनुष्य के लिए प्रकृति प्रायः शतप्रतिशत रहस्य थी—वह उसकी अनुल्लंघनीय वैज्ञानिकता से नितान्त अनभिज्ञ था। अपने ज्ञान के उदयकाल में उसने हवा की महत्ता का अनुभव करके उसे पंचतत्त्वों में स्थान दिया, लेकिन यह वर्गीकरण अपरिपक्व और उथले निरीक्षण पर निर्धारित था; सत्रहवीं शताब्दी में राबर्ट ब्वायल आदि चतुर पुरुषों ने इस प्रकार के अटकलों की व्यर्थता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, और इन्हीं के द्वारा निर्धारित मार्ग पर अग्रसर होकर अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रदरफर्ड, शीले, प्रीस्टले और लवॉयशिये आदि व्यक्तियों ने प्रयोगों द्वारा हवा के निष्क्रिय और क्रियाशील अवयवों के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया। अब तक के फ्लोजिस्टनवाद आदि अंड-बंड विचारों का भंडाफोड़ लवॉयशिये ने जिस प्रकार किया था, वह विज्ञान के इतिहास में एक अमर घटना रहेगी। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी की आठवीं दशाब्दी में हवा के रहस्योद्घाटन का प्रारम्भ हुआ—वास्तव में यह हवा का ही नहीं रसायन के ही रहस्य का उद्घाटन था। रसायन विज्ञान की नींव हवा के ही रहस्योद्घाटन द्वारा पड़ी, और बिना रसायन के क्रमबद्ध विकास के अन्य विज्ञानों का विकास भी सर्वथा असंभव था। विज्ञान-मन्दिर के आदिकाल से जकड़े हुए द्वार तक लोग ब्वायल के निर्देश द्वारा पहुँच सके, किन्तु उसे लवॉयशिये आदि वैज्ञानिक अपनी बायु-विद्या द्वारा ही खोल सके। उसके खुलते ही मनुष्य ने अपने आधुनिक वैज्ञानिक युग में प्रवेश किया, और डेढ़ सौ वर्ष के इस अल्पकाल में ही वह कहाँ से कहाँ आ पहुँचा है!

ध्यानपूर्वक विचार करने से हम देखते हैं कि संसार के प्रायः सभी रासायनिक परिवर्त्तन हवा के कारण ही संभव होते हैं। मैं इस समय बैठा हुआ यह लेख लिख रहा हूँ। ज़रा देखिए कि मेरे चारों ओर हवा क्या-क्या कर रही है। मेरे फेफड़े स्वयं बार-बार हवा को खींच रहे हैं, और उसकी ऑक्सिजन कार्बन डाइऑक्साइड में परिणत होकर निकलती जा रही है। नीचे सड़क पर हवा में ही साँस लेकर ताँगे में जुता हुआ जा रहा घोड़ा अपने जीवन और कार्य का संचालन कर रहा है। सड़क के उस ओर पल्लवित, पुष्पित और सुरभित होता हुआ वृक्ष हवा में साँस लेकर ही अपनी जीवन-क्रियाओं को संभव कर रहा है। मेरे सामने जो कुछ भी लकड़ी, कपड़े अथवा काग़ज़ का सामान है, उसे पेड़-पौधों में हवा ने ही श्वासरूप में प्रविष्ट हो-होकर किसी समय में बनाया था। इनमें स्थिर कार्बन के परमाणु किसी समय कार्बन डाइऑक्साइड के अणुओं के रूप में हवा में डोल रहे थे। ऊपर रसोई में अँगीठी में कोयला और चूल्हे में लकड़ी जल रही है, अर्थात् कार्बन हवा की क्रिया से कार्बन डाइऑक्साइड में बदलकर फिर हवा में लौटा जा रहा है। नीचे, यह देखिए, सड़क पर उधर से एक मोटरकार और इधर से मोटर साइकिल निकल गई। उन पर बैठे हुए व्यक्तियों को क्या यह ज्ञात है कि हवा की ही रासायनिक क्रिया द्वारा कार्बन व हाइड्रोजन का यौगिक पेट्रोल जलकर, अर्थात् कार्बन डाइऑक्साइड तथा पानी में परिवर्त्तित होकर, मोटरों को शक्ति प्रदान कर रहा है? रसोई में रक्खी हुई लोहे की कढ़ाई पर यह भूरे लाल रंग की ज़ंग हवा की क्रिया से ही लगी है। उधर सड़क के उस पार वृक्ष के आगे पड़ी हुई गंदगी हवा के ही ऑक्सिजन और कीटाणुओं द्वारा सड़ी जा रही है, और कल का दूध आज

हवा के ही कीटाणुओं द्वारा खट्टा हो गया है—उसकी शक्कर लैक्टिक एसिड में परिणत हो गई है। बहुत दिन से रक्खा हुआ पान का चूना अब मन्द पड़ गया है—हवा की ही कार्बन डाइऑक्साइड की क्रिया से चूना (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड क्षार) खड़िया (कैल्शियम कार्बोनेट) नामक उदासीन यौगिक में बदलकर अपनी तेज़ी खो बैठा है। यही क्रिया तो दिवाल पर पुते हुए चूने पर भी हुई है। मैं यह लेख फाउंटेन पेन से लिख रहा हूँ। मैं देखता हूँ कि पहले के लिखे हुए अक्षर गहरे रंग के हो गए हैं, और अभी लिखे हुए हलके रंग के हैं। यह रंग-परिवर्त्तन हवा की ऑक्सीकारिणी क्रिया द्वारा ही हुआ है। केवल प्राकृतिक परिवर्तनों में ही नहीं, अनेक कृत्रिम विधियों में भी हवा महत्त्वपूर्ण भाग लिया करती है। भट्ठियों का जलना; अमोनिया, नाइट्रिक एसिड, सल्फ्यूरिक एसिड आदि पदार्थों का निर्माण; तथा ताँबा, जस्ता, सीसा आदि धातुओं का निकालना बहुधा हवा के ही रासायनिक कार्य पर निर्भर रहता है। वास्तव में यदि हवा को संसार की रासायनिक सक्रियता की देवी कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

ऑक्सिजन और नाइट्रोजन

ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के आविष्कार के साथ ही साथ एवं उसके बाद वैज्ञानिक लोग हवा के इन दो प्रमुख अवयवों के आयतनिक और भारीय अनुपातों को निर्धारित करने का प्रयत्न करने लगे। रदरफर्ड (१७७२) और शीले (१७७४) ने हवा में फास्फोरस जलाकर (पृ० ६३२); लवॉयशिये और प्रीस्टले (१७७४) ने पारा गर्म करके (दे० पृ० ४०४); लीबिग (१८५१) ने कॉस्टिक-क्षारयुक्त पाइरोगलॉल के घोल में तथा ड्यूमास (१८८१) और जॉली (१८७६) ने तप्त ताम्र-छीलनों में ऑक्सिजन शोषित करके; एवं कवेण्डिश (१७६०) आदि अन्य वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा इन अनुपातों को निर्धारित किया। सभी के प्रयोगों से यह निश्चित हुआ कि हवा का लगभग पाँचवाँ अंश ऑक्सिजन है और शेष चार अंश नाइट्रोजन के हैं। उनमें ड्यूमास और जॉली के प्रयोग सबसे अधिक शुद्ध थे। ड्यूमास ने ऑक्सिजन और नाइट्रोजन का भारीय अनुपात २३ : ७७ और जॉली और कुछ अन्य वैज्ञानिकों ने उनका आयतनिक अनुपात २१ : ७६ निकाला। पाठक इसी लेख में आगे देखेंगे कि इन वैज्ञानिकों के निष्कर्ष भी सर्वथा शुद्ध न थे। हवा के रहस्यों का उद्घाटन अभी बहुत-कुछ शेष था। उसके अनेकानेक अद्भुत अवयवों का आविष्कार इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक होता रहा है, और उसके विभिन्न अवयवों के परिमाणों पर तो अब भी प्रयोग होते जा रहे हैं।

यह जानकर कि हवा प्रधानतया दो मूलतत्त्वों से बनी है, लोगों को यह शंका हुई कि हवा में ये दोनों मूलतत्व स्वतन्त्र रूप से ही मिले हुए हैं अथवा परस्पर रासायनिक बंधन द्वारा संयुक्त हैं—अर्थात् हवा मिश्रण है या यौगिक ? इस शंका के समाधान में निम्न तर्क किए गए और इसका मिश्रण होना स्पष्ट हो गया—

(१) रासायनिक यौगिकों में विभिन्न मूलतत्त्वों के परिमाणों का अनुपात सदैव वही रहता है। अमोनिया नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का एक यौगिक है; वह किसी भी विधि से कहीं भी उत्पादित की गई हो, उसमें इन मूलतत्त्वों का आयतनिक अनुपात सदैव १ : ३ और भारीय अनुपात १४ : ३ रहेगा। यदि हवा भी यौगिक है तो अनुपातों की यही स्थिरता इसमें भी मिलनी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। बड़ी भीड़वाले कमरों तथा बेकार पड़े हुए कुओं, बंद मोरियों आदि स्थानों में खुली हवा की अपेक्षा ऑक्सिजन का परिमाण कम रहता है। वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में भी ऑक्सिजन के भारी होने के कारण उसका परिमाण कम होता जाता है।

(२) रासायनिक संयोग में प्रायः ताप का उत्पादन अथवा उसका शोषण होता है। ऑक्सिजन और नाइट्रोजन को वायु के इन्हीं अवयवों के अनुपात में मिलाने पर वायु-जैसे ही गुणोंवाला मिश्रण बन जाता है, लेकिन ताप का उत्पादन अथवा शोषण बिलकुल नहीं होता।

(३) यौगिकों के अवयव केवल रासायनिक साधनों द्वारा ही, लेकिन मिश्रणों के अवयव भौतिक अथवा यांत्रिक साधनों द्वारा भी पृथक् किए जा सकते हैं। तरल हवा के आंशिक वाष्पीकरण द्वारा नाइट्रोजन और ऑक्सिजन का पृथक्करण (दे० पृ० ४०६ व ६३४) एक भौतिक विधि पर ही निर्भर है। पानी में घुली हवा में ऑक्सिजन का परिमाण उसके अधिक घुलनशील होने के कारण अधिक होता है। किसी यौगिक के अवयवों के परिमाण इस प्रकार घट-बढ़ नहीं सकते। फिर, जब हवा किसी रंध्रमय पात्र में रक्खी जाती है तो रंध्रों में से नाइट्रोजन, ऑक्सिजन से हलकी होने के कारण, अधिक तेज़ी से निस्सरित होने लगती है। यह बात मिश्रण में ही संभव है। यौगिकों के अवयव रंध्रों द्वारा इस प्रकार पृथक् नहीं किये जा सकते।

(४) यदि हम हवा को यौगिक मानें तो ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के आयतनिक अनुपात से, रासायनिक सिद्धांतों

के अनुसार, उसका अणुसूत्र N_4O निकलता है, और इस सूत्र के अनुसार हवा को हाइड्रोजन से ३६ गुनी भारी होना चाहिये। लेकिन हवा हाइड्रोजन से केवल १४.३ गुनी ही भारी होती है, और उसका घनत्व इतना तभी हो सकता है, जब हम उसे ऑक्सिजन (घनत्व = १६) और नाइट्रोजन (घनत्व = १४) का मिश्रण मानें।

निष्क्रिय अवयव

सन् १७८५ में कवेण्डिश ने हवा की नाइट्रोजन को ऑक्सिजन के साथ बिजली की चिनगारियों द्वारा पूर्णतः संयुक्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार उत्पादित नाइट्रोजन पराक्साइड को कास्टिक पोटाश के घोल में और शेष ऑक्सिजन को सोडियम सल्फाइड के घोल में शोषित करके उसने देखा कि प्रत्येक बार एक रंगहीन गैस का बुलबुला (जिसका आयतन ली हुई नाइट्रोजन का $\frac{1}{120}$ होता है) बच रहता है। कवेण्डिश ने इस बुलबुले को बिजली की चिनगारियों द्वारा ऑक्सिजन से संयुक्त कर देने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन वह सफल न हुआ। कवेण्डिश का यह निरीक्षण वास्तव में, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था, किंतु उसके सौ वर्ष से भी अधिक बाद तक कोई उसे समझ लेने में समर्थ न हो सका। इसी वर्ष लार्ड रैले ने प्रयोग द्वारा निश्चित किया कि हवा से निकाली हुई नाइट्रोजन के एक लीटर का भार १.२५७ ग्राम, किन्तु यौगिकों से बनाई हुई गैस का भार केवल १.२५१ ग्राम होता है। इस बात को लार्ड रैले ने एक पत्र के रूप में 'नेचर' नामक सुविख्यात वैज्ञानिक पत्र में प्रकाशित करवाया और अपने पाठकों से प्रार्थना की कि वे इसका कारण ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करें। 'नेचर' के जिस 'रासायनिक पाठक' का ध्यान तुरन्त इस समस्या की ओर आकर्षित हुआ, वह ग्लास्गो-निवासी विलियम रैमज़े था। उसने उत्साह और दृढ़ता के साथ इस संबंध में अपनी खोज शुरू कर दी। अपनी विस्तृत विधि में उसने हवा की कार्बन डाइऑक्साइड को कास्टिक पोटाश के घोल में, जल-वाष्प को सांद्र सल्फ्यूरिक ऐसिड में, और ऑक्सिजन को रक्त-तप्त ताम्र-छीलनों में शोषित करके पृथक् कर लिया, और बची हुई गैस को वह दस दिन तक रक्त-तप्त मैग्नेशियम पर प्रवाहित करता रहा। इतने समय में प्रायः सभी नाइट्रोजन भी मैग्नेशियम से संयुक्त होकर (पृ० ६३६) पृथक् हो गई। इस प्रकार जो गैस बची उसका आयतन हवा के आयतन का लगभग १ प्रतिशत था। इसकी परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि जहाँ हाइड्रोजन की अपेक्षा नाइट्रोजन १४ गुनी भारी होती है वहाँ यह गैस २० गुनी भारी है। रैमज़े को संदेह हुआ कि यह कोई नया मूल-तत्त्व तो नहीं है!

सर विलियम रैमज़े (१८५२—१९१६)
आर्गन, नियन आदि निष्क्रिय गैसों का आविष्कर्त्ता

इसी बीच लॉर्ड रैले का ध्यान १०० वर्ष से भी अधिक पुराने कवेण्डिश के प्रयोगों की ओर गया। उसने उन्हें सावधानी के साथ दोहराया, और देखा कि बची हुई गैस रैमज़े की ही बची हुई गैस के समान थी। इस बची हुई गैस के रासायनिक गुणों की परीक्षा करने का प्रयत्न अब किया गया। यह तो देखा ही जा चुका था कि ऑक्सिजन जैसी क्रियाशील गैस का उस पर कोई असर नहीं होता। अब अन्य क्रियाशील तत्त्वों, यथा हाइड्रोजन, क्लोरीन फ़्लोरीन, फास्फोरस, गंधक, सोडियम आदि से भी उसे संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया, लेकिन किसी की भी कुछ न चली। तो क्या इस विलक्षण गैस में रासायनिक गुणों का सर्वथा अभाव था। अब बिजली की चाप-भट्टी का आविष्कर्त्ता तथा विद्युत्धारा के उपयोग से अत्यंत क्रियाशील फ़्लोरीन गैस को बनानेवाला मोइसाँ आगे आया। क्या प्रबल विद्युत्-स्फुलिंगों के प्रभाव में फ्लोरीन-जैसी महाक्रियाशील गैस से भी यह नई गैस संयुक्त न होगी? प्रबल चिनगारियाँ छोड़ी गईं, लेकिन उनकी भी क्या मजाल! यह नई गैस जैसी की तैसी रही! सब हार मान गए! एक ऐसे तत्त्व का आवि-

ष्कार हुआ था जिसमें कोई रासायनिक गुण होता ही नहीं, किसी भी अन्य मूलतत्त्व—क्रियाशील से क्रियाशील धातुओं और अधातुओं—की ओर खिंचाव का जिसमें नाम नहीं; जो एक ऐसे व्यक्ति के समान है जो संयोग के आकर्षणों से सर्वथा परे हो—अखंड ब्रह्मचारी! यदि ऐसे ही सब मूलतत्त्व होते, तो रसायन ही न होता!! इस नए मूलतत्त्व के किरणचित्र की परीक्षा की गई, वह नाइट्रोजन से बिलकुल विभिन्न और एक नए तत्त्व का सूचक था। इसका नाम आर्गन रख दिया गया। 'आर्गन' एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ आलसी होता है।

यद्यपि हवा में आर्गन का परिमाण एक प्रतिशत से भी कुछ कम है, तथापि वह उपेक्षणीय नहीं। पृथ्वी पर प्रति वर्गमील ८० करोड़ टन आर्गन का बोझ लदा रहता है। निष्क्रिय होने के कारण आर्गन बिजली की बत्तियों में भरने के लिए बड़ी ही उपयोगी गैस सिद्ध हुई। जब बल्ब में कोई गैस नहीं रहती तो उसके तंतु से, जो बहुधा टंग्स्टन धातु के बने होते हैं, धातु वाष्पीभूत होकर शीशे पर जम जाती है और धुँधलापन आ जाता है। आर्गन भरने से ऐसा नहीं होता, और न केवल बल्ब की आयु ही, वरन् उसका उजाला भी बढ़ जाता है। उसके सर्वथा निष्क्रिय होने के कारण टंग्स्टन तंतु रासायनिक परिवर्त्तन से भी पूर्णतः मुक्त रहता है। इस उपयोग के लिए आर्गन आजकल द्रवीभूत हवा से आंशिक स्रवण द्वारा पृथक् कर ली जाती है। तापक्रम बढ़ने पर सबसे पहले नाइट्रोजन निकल जाती है, और फिर ऑक्सिजन मिली हुई आर्गन निकलती है। इस मिश्रण से ऑक्सिजन रक्ततप्त ताम्र-छीलनों द्वारा शोषित करके अलग कर ली जाती है और आर्गन बच रहती है। बल्बों में जिस गैस का प्रयोग होता है उसमें प्रायः ८८ प्रतिशत आर्गन और शेष नाइट्रोजन रहती है।

इसके बाद वायुमंडल में आर्गन से मिलते-जुलते एक दूसरे गैसीय मूलतत्त्व का भी लघु मात्रा में अस्तित्व प्रमाणित हुआ। इसका नाम हीलियम था। इसका आविष्कार, वास्तव में, फ्रांस के जैन्सेन और इंग्लैंड के नार्मन लाक्यर नामक ज्योतिषियों द्वारा सन् १८६८ में ही हो चुका था। इन्होंने इसका अस्तित्व पृथ्वी पर नहीं, वरन् सूर्य के वर्णमंडल में किरणचित्रदर्शक द्वारा प्रमाणित किया था। ग्रीक में हीलिऑस का अर्थ सूर्य होता है, अतएव इस गैस का नाम हीलियम पड़ा। सन् १८६४ में रैमज़े ने 'क्लीवेयाइट' नामक धातव खनिज को शून्य में अथवा हलकी सल्फ़्यूरिक ऐसिड के साथ गर्म करने से निकलनेवाली गैस की परीक्षा की। इस गैस में मिली हुई नाइट्रोजन को उसने शोषकों द्वारा पृथक् कर लिया, और शेष गैस के किरणचित्र की परीक्षा करने पर उसने उसे हीलियम पाया। इसके बाद हीलियम का अस्तित्व वायुमंडल, अनेक अन्य विकिरणशील (radio-active) खनिजों, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के कई दक्षिण-पश्चिमीय प्रांतों की खनिज गैसों में सिद्ध हुआ। हवा के २,५०,००० आयतनिक भागों में हीलियम का एक भाग रहता है, किंतु अमेरिका की खनिज गैसों में प्रायः १ प्रतिशत से कुछ कम और कभी-कभी ८ प्रतिशत आयतनिक भाग हीलियम के पाये गए हैं। उन्हीं गैसों को ख़ूब ठंडा करने से हीलियम के अतिरिक्त अन्य सब गैसें द्रवीभूत हो जाती हैं। बड़े परिमाणों में इसी प्रकार इसे तैयार करते हैं। आर्गन की भाँति हीलियम में भी रासायनिकता का पूर्ण अभाव है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वह हाइड्रोजन को छोड़ अन्य सभी गैसों से हलकी होती है। हाइड्रोजन से वह केवल दुगुनी भारी होती है। इसके अतिरिक्त वह अज्वलनशील भी है, अतएव वह गुब्बारों और वायुयानों के लिए बड़ी ही उपयोगी प्रमाणित हुई। हाइड्रोजन से भारी होने के कारण वह थैलों से उतनी जल्दी छनकर निकल भी नहीं सकती। हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण कभी-कभी पनडुब्बों के साँस लेने के काम में लाया जाता है। अत्यधिक गहराई में पानी के बोझ के कारण शरीर पर दबाव बहुत बढ़ जाता है। वहाँ पनडुब्बे जिस हवा में साँस लेते हैं उसका भी दबाव बहुत हो जाता है। इस दबी हुई हवा में साँस लेने से नाइट्रोजन रुधिर में अत्यधिक घुल जाती है। इसका फल यह होता है कि यदि आवश्यकता पड़ने पर पनडुब्बे को शीघ्र ही ऊपर उठा लिया जाता है, तो यह नाइट्रोजन रुधिर से बुलबुलों के रूप में निकल पड़ती है जिससे, शरीर के कोष्ठों पर आघात के कारण, उस व्यक्ति की बहुधा मृत्यु तक हो जाती है। हीलियम नाइट्रोजन की अपेक्षा बहुत कम घुलती है, अतएव हीलियम-मिश्रित ऑक्सिजन का उपयोग पनडुब्बों के लिए अधिक निरापद सिद्ध हुआ है, और बहुत अधिक गहराई तक इसका उपयोग हो सकता है। हाल ही में तीव्र दमा के रोग में भी हीलियम-ऑक्सिजन के मिश्रण में साँस लेना बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। हीलियम के संबंध में एक मनोरंजक बात यह है कि उसके क्वथनांक (-२६९°C) से नीचा किसी भी वस्तु का क्वथनांक नहीं होता। तरल हीलियम के वाष्पीकरण द्वारा -२७२°C तक के तापक्रम पर पहुँचा जा चुका है। पाठकों को कदाचित् ज्ञात होगा कि -२७३°C से नीचा तापक्रम हो ही नहीं सकता। इस तापक्रम पर द्रव्य सर्वथा

तापविहीन हो जाता है, अर्थात् उसके अणु नितांत स्तब्ध हो जाते हैं। हीलियम के सहारे मनुष्य इस परम तापक्रम के बहुत ही निकट जा पहुँचा है। हीलियम की एक अन्य अत्यंत मनोरंजक बात यह है कि वह रेडियम, थोरियम, यूरेनियम आदि विकिरणशील धातुओं के परमाणुओं के स्वतः टूटते रहने से बना करता है, और ये मूलतत्त्व हीलियम निकल जाने के बाद अन्य मूलतत्त्वों में परिणत होते रहते हैं। रेडियम धातु इस प्रकार खंडित होते हुए सीसा में बदल जाती है। विकिरणशील खनिजों के रंध्रों में हीलियम इसीलिए पाया जाता है। विकिरणशील धातुओं से निकलते हुए 'अलफा-कण' हीलियम के ही विद्युदाविष्ठ परमाणु होते हैं। इस प्रकार डाल्टन की प्रचलित धारणा कि परमाणु विभाजित हो ही नहीं सकते इन विकिरणात्मक अनुसंधानों के बाद खंडित हो गई। इन अनुसंधानों द्वारा परमाणुओं की रचना के निर्धारित करने में भी बहुत बड़ी सहायता मिली।

हीलियम और आर्गन-जैसी अनोखी गैसों के आविष्कार से रैमज़े ने वैज्ञानिक जगत् को आश्चर्य-चकित कर दिया था, लेकिन अभी उसका कार्य समाप्त नहीं हुआ था। मूलतत्त्वों की आवर्त्तसारिणी में इन गैसों को स्थान देने के प्रयत्न में उसे प्रतीत हुआ कि इसी प्रकार के कुछ अन्य मूल-तत्वों का भी होना आवश्यक है, और वायुमंडल में ही इन गैसों का अस्तित्व हो सकता है। १२० टन द्रवीभूत वायु के आंशिक स्रवण द्वारा रैमज़े और ट्रैवर्स ने १८९८ में हीलियम और आर्गन जैसी तीन अन्य गैसों को ढूँढ़ निकाला। उनके नाम नियन (=नवीन), क्रिप्टन (=गुप्त), और ज़ीनन (=अपरिचित) रख दिए गए। हवा में इन गैसों का अनुपात बहुत ही कम होता है, इसीलिए तो इनका पता लगाने के लिए १२० टन तरल वायु लेनी पड़ी। नियन, क्रिप्टन और ज़ीनन का एक-एक आयतनिक भाग हवा के क्रमशः ५५ हज़ार, दो करोड़ और सत्रह करोड़ भागों में रहता है। इन अनुपातों का अनुमान दिलाने के लिए कहा गया है कि यदि हवा के अणु दिखाई दे सकते और आँखों के सामने एक-एक करके प्रति सेकंड एक के हिसाब से चलते जाते, तो आर्गन के अणु दो-दो मिनट बाद, क्रिप्टन के आठ-आठ महीने बाद और ज़ीनन के छः-छः वर्ष बाद दिखाई देते। इतने कम परिमाणों में होते हुए भी रैमज़े इन्हें ढूँढ़ सका, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। उसके अद्भुत प्रयोगों को देखकर लोगों ने दाँतोतले उँगली दबाई। रेडन नामक एक अन्य मूल गैस की खोज के बाद रैमज़े के मूलतत्त्वों का कुटुंब पूरा हो गया। रैमज़े ने एक मूलतत्त्व की नहीं, मूलतत्त्वों के एक अद्भुत कुटुंब की खोज की थी। १९०२ में उसे 'सर' की उपाधि मिली, १९०४ में उसे नोबेल पुरस्कार दिया गया और १९११ में वह ब्रिटिश असोसिएशन का सभापति चुना गया। १९१६ में महायुद्ध के कठिन कार्य से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और उसी वर्ष ६४ वर्ष की अवस्था में उसका देहांत हो गया।
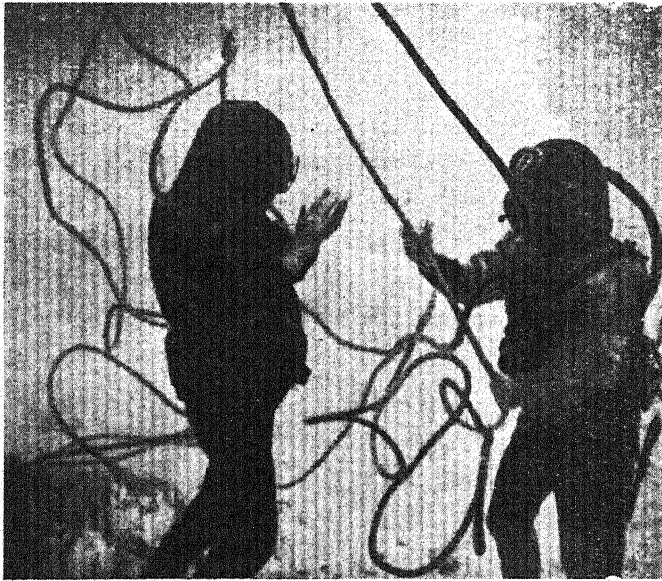
हीलियम का एक उपयोग

हीलियम और ऑक्सिजन का मिश्रण गहरे समुद्र में पैठनेवाले पनडुब्बों के साँस लेने के लिए उपयोगी और निरापद सिद्ध हुआ है।

नियन गैस का एक मनोरंजक उपयोग नियन-प्रकाश के उत्पादन में होता है। ऐसे प्रकाशों को आपने शहरों में बड़ी-बड़ी दूकानों, सिनेमा-भवनों आदि पर विज्ञापनों के रूप में कदाचित् देखा होगा। इन विज्ञापनों के अक्षर आदि शीशे की नलियों के बने होते हैं, जिनमें बहुधा नियन गैस वायुमंडल के लगभग ३५० गुने कम दबाव में भरी रहती है। यह गैस बिजली द्वारा एक तेज़ लाल प्रकाश से चमक उठती है, और बिजली का ख़र्च भी बहुत कम होता है। कोहरे आदि में लाल प्रकाश दूर तक दिखाई पड़ सकता है। रेलवे, मोटरकारों आदि के सिगनल

इसीलिए लाल बत्तियों के बनाए जाते हैं, और संध्या-सबेरे सूर्य लाल इसीलिए दिखाई पड़ता है कि अधिक वायु-मंडल को भेदकर केवल लाल रश्मियाँ ही हम तक पहुँच सकती हैं। अतएव उन देशों में जहाँ कोहरे की अधिकता रहती है, नियन के प्रकाश का बहुत उपयोग होता है। प्रकाश-स्तंभों तथा एअरोडोमों में भी नियन-प्रकाश का उपयोग इसी कारण होने लगा है। लाल रंग के अलावा आपने कुछ अन्य रंगों के भी विज्ञापन देखे होंगे। रंगीन शीशे की नलियों द्वारा अथवा उनमें कुछ अन्य गैसों को भरकर रंगों में परिवर्त्तन किया जा सकता है। नियन और हीलियम के मिश्रण से स्वर्ण के रंग का प्रकाश, और आर्गन और पारद-वाष्प के मिश्रण से एक मनोहर नीला प्रकाश उत्पन्न होता है।

इन गैसों की एक विचित्र बात यह है कि इनके अणुओं में केवल एक ही एक परमाणु होता है। हमने देखा है कि हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहा करते हैं। अतएव ये गैसें इस दृष्टि से भी निराली होती हैं। इन गैसों के परमाणु स्वयं आपस में भी संयुक्त नहीं हो सकते। रासायनिक प्रीति का उनमें नाम तक नहीं होता।

कार्बन डाइऑक्साइड

खुली हुई हवा के १०,००० आयतनों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड के तीन भाग रहा करते हैं। सजीव जगत् के लिए हवा में कार्बन डाइऑक्साइड का होना परमावश्यक है। वनस्पति पत्तियों के रंध्रों द्वारा साँस लेकर इसी कार्बन डाइऑक्साइड से अपने कलेवर का कार्बन ग्रहण करते रहते हैं और यह कार्बन नाना प्रकार से पुनः आक्सीकृत होकर कार्बन डाइऑक्साइड के रूप में वायु में लौटता रहता है। बेहवादार कमरों, बंद मोरियों, अंधे कुओं आदि की हवा में कार्बन डाइऑक्साइड का परिमाण अत्यधिक हो जाता है। शहरों की हवा में भी कुछ अधिक कार्बन डाइऑक्साइड यानी ४ भाग प्रति दस हज़ार रहती है। जब तक दस हज़ार हवा के भागों में ६ भाग तक कार्बन डाइऑक्साइड रहती है तब तक उसे साँस लेने के योग्य समझा जाता है। अधिक होने से स्वास्थ्य के लिए वह हानिकारक हो जाती है। जिन स्थानों में भूविवरों अथवा ज्वालामुखी पर्वतों से कार्बन डाइऑक्साइड निकलती है, वहाँ वह बहुधा, हवा से भारी होने के कारण, भूपृष्ठ पर इकट्ठी हो जाती है। जावा की एक ऐसी ही घाटी को 'मृत्यु की घाटी' कहते हैं, क्योंकि उसमें पहुँच जाने पर ऑक्सिजन के अभाव से प्राणियों का दम घुट जाता है। एक यात्री का कहना है इस घाटी की तह पर सर्वत्र मनुष्यों, जानवरों तथा पक्षियों के अस्थिपंजर बिखरे पड़े हैं। कहते हैं कि नेपल्स (इटली) की एक गुफ़ा का तल १८ इंच तक कार्बन डाइऑक्साइड से आच्छादित रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य तो उसमें निरापद चल फिर सकते हैं, लेकिन कुत्तों का दम घुट जाता है।

जलवाष्प

नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, निष्क्रिय गैसें तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड के अलावा हवा में अन्य अनेकानेक पदार्थ भी रहते हैं, किन्तु वे अशुद्धियों के रूप में माने जाते हैं; कारण हवा में इनका अस्तित्त्व अस्थिर रहता और परिमाण बदलता रहता है। जलवाष्प भी इस प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। पृथ्वी के जलाशयों, जैसे समुद्रों, झीलों, नदियों, सोतों, तालाबों, आदि से तथा आर्द्र मिट्टी से वाष्पीभूत होकर जलवाष्प हवा में मिलता रहता है। ज्वालामुखी पहाड़ों से भी भाप के रूप में पानी निकलकर हवा में मिलता रहता है। वनस्पति और प्राणी भी पृथ्वी के जलाशयों से जल ग्रहण करते और अपने कलेवरों पर से वाष्पीकरण द्वारा हवा को देते रहते हैं। तथापि प्रधानतः हवा को जलवाष्प सागर से ही प्राप्त होती है। इस जलवाष्प से वर्षा द्वारा पानी फिर उन्हीं स्थानों में लौट आता है, जहाँ से वह वाष्पीभूत हुआ था। धरती और वायुमंडल के बीच में यह जलचक्र निरंतर चला करता है। जलवाष्प हवा से डेढ़ गुनी से भी अधिक हलकी होती है, अतएव जलवाष्प से लदी हुई हवा साधारण हवा की अपेक्षा हल्की हो जाती है। साधारण तापक्रमों पर जल-वाष्प से संपृक्त हवा में लगभग एक आउंस (आधा छटाँक) पानी रहता है। हवा वाष्प-रूप में कितना जल ग्रहण कर सकती है, यह तापक्रम पर निर्भर रहता है। ऊँचे तापक्रम पर नीचे तापक्रम की अपेक्षा उसमें अधिक जल रह सकता है। राजपूताने के मरुस्थल की तप्त वायु में प्रति घनफुट हिमशिखरों की वर्षा-वायु की अपेक्षा अधिक जलवाष्प हो सकती है, तब भी मरुस्थल की वायु बहुत ही सूखी और हिमालय पर की वर्षा-वायु संपृक्त कही जाती है। हवा की यही शुष्कता अथवा आर्द्रता हमारे स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती है। इस आर्द्रता की माप के विषय में हम भौतिक विज्ञान में पढ़ते हैं। अति आर्द्र वायु में हानि-कारक कीटाणु अधिक समय तक रह सकते हैं, अतएव वह हमारे स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छी नहीं होती। गर्मी के दिनों में आर्द्र वायु और भी कष्टदायक होती है, कारण हमारे फेफड़ों और शरीर से उतना पानी वाष्पीभूत

नहीं होता, जितना होना चाहिए। इसके विपरीत बहुत सूखी हवा में गला, नाक आदि सूखने लगते हैं। वायुमंडल में जलवाष्प की उपस्थिति से हवा के ताप में अधिक विषमता नहीं आने पाती। अधिक ठंडक होने पर जलवाष्प घनीभूत होकर गर्मी देने लगती है और अधिक गर्मी पड़ने पर फिर वाष्पीभूत होकर गर्मी का शोषण करने लगती है।

धूलि-कण और कीटाणु

चट्टानों से अनेक मौसमी कारणों द्वारा धूलि-कण टूटकर धरती पर बिछ जाते हैं। यहाँ से हवा तथा अन्य गतिशील साधनों द्वारा उड़कर वे हवा में मिल जाते हैं। आग्नेय पर्वतों, उल्काओं, कारखानों की चिमनियों आदि द्वारा भी हवा में धूल मिला करती है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि सिगरेट की एक फूँक में लगभग ४० अरब कण निकलकर हवा में मिल जाते हैं; सब धूलि-कण एक ही प्रकार के नहीं होते। वे नाना प्रकार के अकार्बनिक और कार्बनिक पदार्थों तथा कोयले के बने होते हैं। शहरों की हवा में प्रति घन इंच ३ करोड़ से भी अधिक धूलि-कण रहा करते हैं। शहरों के बाहर इनकी संख्या इससे लगभग आधी हो जाती है। किसी भी स्थान की हवा धूलि-कणों से सर्वथा मुक्त नहीं होती, यहाँ तक कि महासागरों के ऊपर की हवा में भी प्रति घन इंच प्रायः ५ हज़ार से चालीस हज़ार तक धूलि-कण मिलते हैं। असाधारण अवस्थाओं में हवा धूलि के बृहद् परिमाणों को अपनी गोद में उठाकर चल सकती है। चीन की 'लोएस' नामक पीली मिट्टी, जो कहीं-कहीं पर हज़ारों फ़ीट गहरी है, मध्य एशिया के मरुस्थलों से हवा द्वारा लाई गई थी। सन् १९३४ और १९३५ में संयुक्तराज्य, अमेरिका, में आँधियों द्वारा बृहद् कृषि-क्षेत्र धूलि से पटकर नष्ट हो गए थे। मरुस्थलों से हवा द्वारा न जाने कितनी धूलि हज़ारों मील तक इधर से उधर हुआ करती है।

निअन प्रकाश का उपयोग

रात्रि में निअन-ज्योति द्वारा प्रकाशित एक सिनेमा-भवन

हवा में धूलि-कणों का रहना अत्यंत आवश्यक है। वर्षा, हिम, कोहरा, ओस आदि के बिंदु धूलि-कणों के ही आधार पर बनते हैं। गर्मी के दिनों में वह बहुधा आकाश में फैलकर सूर्य के ताप को कम कर देती है। दिन में उजाले का सर्वत्र फैल जाना धूलि-कणों द्वारा ही संभव होता है। तथापि हवा में अत्यधिक धूलि-कणों का रहना हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।
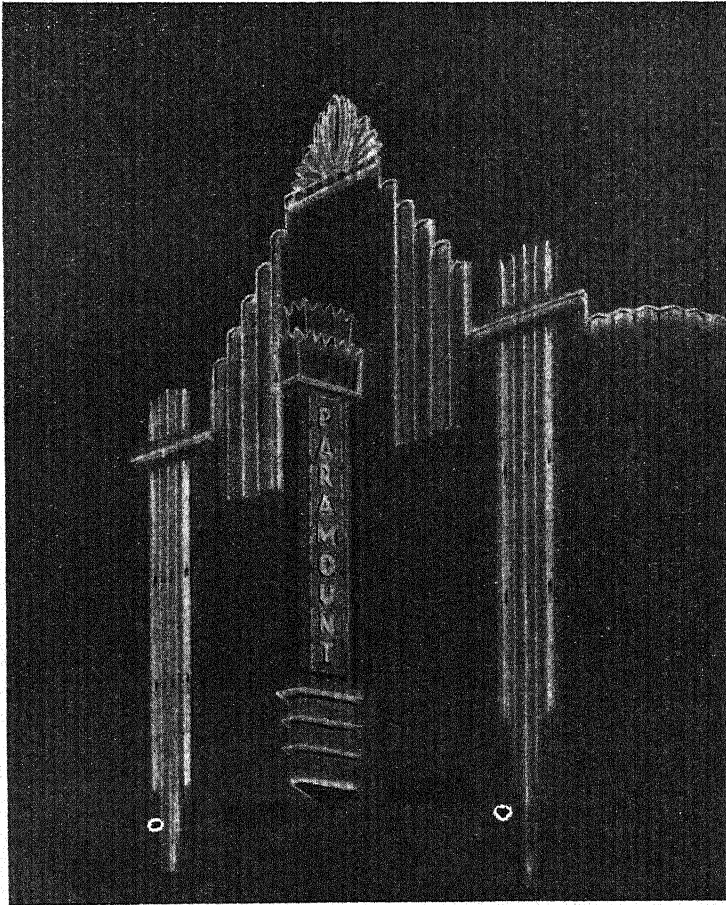
हवा में सर्वत्र नाना प्रकार के कीटाणु भी बहुत बड़ी संख्या में रहा करते हैं। सड़ना, सिरके का उठना, दूध का खट्टा होना, घाव या फोड़े का पकना, तथा कुछ बीमारियों का फैलना हवा के कीटाणुओं द्वारा ही संभव होता है। खुली हुई प्रकाशमय हवा में हानिकारक कीटाणु नहीं पाये जाते। वे गंदी अति आर्द्र गर्म हवा में ही अधिक रह सकते हैं।

अन्य अवयव

जलवाष्प, धूलि-कणों तथा कीटाणुओं के अलावा कुछ अन्य पदार्थ भी हवा में लेशांशों में मिले रहते हैं। प्रायः इन सभी का अस्तित्व और परिमाण देश की परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। अमोनिया और हाइड्रोकार्बन जीव-पदार्थों के सड़ने अथवा विच्छिन्न होने से हवा में मिलते रहते हैं। ओज़ोन, हाइड्रोजन परॉक्साइड, और नाइ-ट्रोजन की ऑक्साइडें बिजली के विसर्जन के कारण हवा में बनती हैं। कहा जाता है कि धूप में पानी के तीव्र वाष्पी-करण द्वारा भी ओज़ोन का उत्पादन होता है। हवा के एक करोड़ आयतनिक भागों में ओज़ोन का एक भाग से अधिक नहीं होता, इससे अधिक होने पर हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और विषाक्त हो जाती है। वायुमंडल के नीचे स्तरों में ओज़ोन सल्फ़र डाइऑक्साइड, कार्बनिक यौगिक आदि पदार्थों से अवकृत होकर शीघ्र ही ऑक्सिजन में परि-वर्तित हो जाती है। नाइट्रोजन की ऑक्साइडों के पानी में घुलने के कारण हवा में नाइट्रस और नाइट्रिक एसिड भी लेशांशों में मिलती हैं। शहरों की हवा में सल्फ़र डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड और सल्फ्यूरिक एसिड का भी पता लगता है। कारख़ानों में पत्थर के कोयले (जिसमें कुछ गंधक रहता है) और गंधक के खनिजों के जलाने से सल्फ़र डाइऑक्साइड हवा में मिल जाती है। समुद्र-तटों पर जलवर्षा में कुछ नमक भी मिला रहता है। यह नमक हवा द्वारा उड़ आए हुए समुद्र के जलविंदुओं में होता है। जिन शहरों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड बनाई जाती है उनकी हवा में यह भी मिश्रित होती है। इनके अतिरिक्त हवा में लघु मात्रा में कार्बन मोनोक्साइड (शहरों में) और हाइड्रोजन भी रहती हैं।

क्या और कहाँ तक ?

समुद्रतल पर हवा के सौ आयतनिक भागों में उसके अपरिणम्य अवयवों का परिमाण इस प्रकार होता है—

नाइट्रोजन	७८·०८	नियन	०·००१८
ऑक्सिजन	२०·६५	हीलियम	०·०००५
आर्गन	०·९३	क्रिप्टन	०·०००१
कार्बन डाइऑक्साइड	०·०३	ज़ीनन	०·००००१

हमने अब तक धरातल के निकट की ही हवा तथा उसके अवयवों का वर्णन किया है। यह जानना भी अत्यंत मनोरंजक है कि ऊपर हवा का भार तथा उसके अवयवों का आनुपातिक परिमाण किस प्रकार बदलता है। पृथ्वी पर हवा का बोझ ३० इंच गहरे पारद अथवा ३४ फ़ीट गहरे पानी के बराबर रहता है। ३॥ मील ऊपर जाकर यह दबाव आधा हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि सारे वायुमंडल का आधा भार ३॥ मील के नीचे ही स्थित है। इसी प्रकार प्रत्येक ३॥ मील बाद दबाव आधा हो जाता है, अर्थात् ७ मील पर चौथाई, १०॥ मील पर, ⅛ हो जाना चाहिए। जो कुछ भी हो, २०० मील तक तो कुछ-न-कुछ हवा का पता तो लगता ही है। कम-से-कम १८८ मील पर तक तो उल्का देखे गए हैं। वायु की ही रगड़ से वेग से आते हुए उल्का तप्त होकर चमकने लगते हैं। उत्तरीय और दक्षिणीय ध्रुव प्रदेशों में ४००–५०० मील की ऊँचाई पर अरोरा बोरिआलिस और अरोरा आस्ट्रालिस नामक ज्योतियों का होना भी वहाँ बहुत ही कम दबाव पर वायव्य अणुओं का होना प्रमा-णित करता है। सूर्य से आए हुए और भूचुंबक द्वारा ध्रुवों की ओर विचलित इलैक्ट्रनों द्वारा यह अणु प्रकाश-मान हो जाते हैं। बिना इन अणुओं के अस्तित्व के यह प्रकाश संभव नहीं हो सकता। छः लाख बीस हज़ार मील की उँचाई पर पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण इतना कम होता होगा कि वहाँ सबसे हल्की गैस हाइड्रोजन के जो अणु डोल जाते होंगे वे शून्य में विलीन हो जाते होंगे।

ऊपर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कम होते जाने के कारण हवा के अवयवों के आनुपातिक परिमाण भी बदलते जाते हैं। लगभग ७ मील ऊपर तक हवा का संगठन प्रायः वही रहता है। इसके ऊपर अधिक भारी गैसों, यथा आर्गन और ऑक्सिजन, का अंश घटने लगता है। लगभग २५ मील पर नाइट्रोजन और ऑक्सिजन का आयतनिक अनुपात ८७:१३ हो जाता है। और अधिक उँचाई पर नाइट्रोजन का अंश भी कम होने लगता है और हाइड्रोजन का बढ़ने लगता है। लगभग ५० मील पर आयतनिक प्रतिशतांकों में नाइट्रोजन का परिमाण ३०, हाइड्रोजन का ६७, ऑक्सिजन का २ और हीलियम का १ हो जाता है। लगभग ८० मील पर हीलियम का अंश भी कम हो जाता है और सारे वायुमंडल में प्रायः हाइड्रोजन ही हाइड्रोजन भरी होती है। इतनी दूरी पर वायुमंडल का दबाव पारा के केवल लगभग ०·००४ मिलीमीटर की उँचाई के बराबर होता है। और अधिक उँचाई पर हाइड्रोजन का दबाव और भी कम होता जाता है। पूरे वायुमंडल का भार लग-भग ५१ हज़ार करोड़ करोड़ टन है। यह पृथ्वी के जल-मंडल के भार का १२७० वाँ और धरामंडल के भार का बारह लाखवाँ भाग है।

ज्योति

प्रसिद्ध है कि जिस समय जर्मन देश का महाप्रज्ञावान् दार्शनिक गेटे इस लोक से अमृत-जगत् की यात्रा के लिए तैयार था उसका अन्तिम उद्गार यह था—'Light! More Light!' अर्थात् ज्योति, भूयसी ज्योति। गेटे ने जन्मपर्यन्त ज्ञान की आराधना की। उसने जीते जी अद्भुत चक्षुष्मत्ता प्राप्त कर ली थी। मनुष्य-जीवन के उच्चतम ध्येय की अनुभूति के लिए, जिस प्रकार मानवी शक्तियों को विकसित करने की आवश्यकता है उसके लिए गेटे ने संतत प्रयत्न किया। उस समस्त अनुभव का निचोड़ वह महापुरुष इसी एक शब्द में हमारे लिए छोड़ गया है—ज्योति। मनुष्य ज्योति का पुत्र है। वह इस बात का इच्छुक रहता है कि उसको ऐसी आँख प्राप्त हो जिसकी दर्शन-शक्ति अप्रतिहत कही जा सके। यही सत्य का चक्षु है। चर्म-चक्षु दार्शनिक भाषा में चक्षु नहीं है। वह तो अक्षिगोलक मात्र है। ज्ञान का नेत्र ही सच्चा चक्षु है। इस चक्षु की शक्ति कहाँ तक बढ़ाई जा सकती है इसकी कोई इयत्ता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के समक्ष यह एक क्रियात्मक प्रश्न है कि वह अपनी चक्षुष्मत्ता को कितनी वीर्यवती बना सकता है। दर्शन के जगत् में सफलता की यही सच्ची परख है। धन, यश, वैभव सबकी नाप परिमित है। मनुष्य की आँख में जितनी शक्ति होती है वही उसके बड़प्पन की सच्ची नाप है। लौकिक वैभव से संबंध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु कुंठित हो सकती है, परन्तु ज्ञान का चक्षु कहीं कुंठित नहीं होता। यही अकुंठित दर्शन हम सबका ईप्सित है। हममें से प्रत्येक के भीतर ज्ञान की आँख किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान है। परन्तु उस ज्योति पर निरन्तर तम का आक्रमण होता रहता है। आसुरी तमोभाव जान में और अनजान में हमारे ज्ञान के शुभ्र पट पर अपनी छाया डालता रहता है। यही वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वर्भानु राहु का सूर्य पर आक्रमण है। इसी की छाया के कारण किसी देवयुग में 'सूर्य' पर कल्मष का प्रभाव देवों को असह्य प्रतीत हुआ था। इस वैदिक उपाख्यान में वैकुण्ठाधिपति (कुंठनरहित) जो इन्द्र है उसको ही अकुंठित नेत्र प्राप्त हुआ था। इसीलिए इन्द्र ने कहा है कि चाहे जिस वस्तु की ओर मैं आँख उठाकर देखूँ, चाहे जिससे मैं आँख मिलाऊँ, मेरे नेत्रों में तिल भर भी विकार उत्पन्न नहीं होता। मैं जगत् के समस्त पदार्थों की ओर अप्रतिहत नेत्र से देख सकता हूँ। यह तो एक कथा है। पर यहाँ ऐसे व्यक्ति कितने हैं जिनके विषय में यह यथार्थ रूप से कहा जा सके कि इनका नेत्र किसी भी विषय में अवरुद्ध नहीं होता? सब अवस्थाओं में जिनको प्रकाश की उपलब्धि हो सकती है उनका ही दर्शन वस्तुतः अकुंठित है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से जो अन्तर है वह भी यही है। आर्यावर्त के इतिहास में कितने वशिष्ठों के लिए कवि यह कह सकता है—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ रघु० ८।७८

अर्थात् पुराणपुरुष का जो भूत-भविष्य-वर्तमान में यह अनन्त पटविस्तार फैला हुआ है, इसके प्रत्येक रहस्य को देखने के लिए किसके पास अप्रतिहत ज्ञान-नेत्र का साधन है? इस चक्षु की प्राप्ति ही दर्शन की साधना है। जिसके पास चक्षु नहीं, वही अन्धा है। वस्तुतः देखा जाय तो इस संसार में तीन तरह के मनुष्य मिलते हैं—

दिवान्धाः प्राणिनः केचित् रात्रावन्धास्तथापरे।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्य दृष्टयः॥

'कोई दिन में अन्धे हैं, कोई रात में अन्धे हैं, और किन्हीं को दिन-रात में एक-सा दिखाई पड़ता है।' दिन क्या है और रात क्या है? जीवन में ज्योति का मार्ग दिन है, तम का मार्ग रात है। आत्मतत्त्व के विषय में जिनको दिखाई नहीं पड़ता वे दिन में अन्धे हैं। सांसारिक जीवन के विषय में जो उदासीन हैं वे रात में अन्धे हैं। सच्चे मनुष्य वे हैं जिनको रात और दिन में, लोक और परलोक के संबंध में, विद्या और अविद्या के क्षेत्रों में एक-सा दिखाई पड़ता है। वे तुल्यदृष्टि पुरुष ही धन्य हैं। उनके जीवन में ही सच्चा समन्वय पाया जाता है। चौथे प्रकार के ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हें हम मूर्च्छित कह सकते हैं, जिन्होंने मस्तिष्क से काम लेने की कला का अभ्यास ही नहीं किया। वे न इस

लोक के साधन में निपुण हैं, न परलोक के साधन में संलग्न हैं। ऐसे दिन-रात में कभी भी न देख सकनेवाले व्यक्तियों का जीवन की हाट में कुछ मूल्य नहीं है।

देवयुग के आरम्भ में जिस दिन आकाश में पहली बार उषा का प्रकाश छिटका था (व्यौच्छत्), उस दिन देवों ने सर्वप्रथम जिस आश्चर्य के दर्शन किये वह यही चक्षु था—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्।

देवों के सामने यह तेजस्वी ज्ञाननेत्र प्रकट हुआ। जिन्होंने इसको पहचान लिया वे ही देव हुए, जो इससे विमुख रहे वे ही तमसाभिभूत रह गए। क्या आज भी प्रतिदिन हमारे आकाश में ज्योति का यह चक्षु प्रकट होकर उस दिव्य कथा का पारायण नहीं करता? पर कब हमारे भीतर इसकी प्रकाश-किरणें दूर तक प्रविष्ट हो पाती हैं! हमारे जीवनक्रम में अहोरात्र के चक्र-परिवर्तन के साथ जीवन के आपेक्षिक मूल्य को समझने और उस पर आचरण करने में तनिक भी परिवर्तन नहीं देखा जाता। ऋषियों ने कहा है कि जब हम ज्योति के साथ मिलते हैं, तभी हम देवों की पंक्ति में बैठ जाते हैं—

सं ज्योतिषा अभूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह। (श० १।६।३।१४)

जान पड़ता है कि इस युग में मनुष्य को अपने देवत्व से ही विराग हो गया है। आध्यात्मिक जीवन को छोड़कर मनुष्य अन्य सब कार्यों के बोझ को अपने कंधों पर टिका हुआ समझता है। एक दार्शनिक ने कहा था कि यदि मैं अपने घर की छप्पर उठाने के लिए मनुष्यों को बुलाऊँ तो वे तुरन्त आ जाते हैं, पर यदि मैं उन्हें उच्च काव्यमय जीवन व्यतीत करने के लिए आमंत्रित करूँ तो इसके लिए कोई उद्यत नहीं होता। वस्तुतः मनुष्य ने विश्व के धंधे को जितनी कुशलता से सँभालने का अभ्यास कर लिया है, अपने विषय में वह उतना ही असावधान बन गया है। यह स्थिति क्यों है? प्रत्येक सारहीन वस्तु की उन्नति के लिए भी जो मनुष्य इतना व्याकुल है, अपनी प्रज्ञा के संबंध में वह इतना उपेक्षाभाव क्यों रखने लगा है? प्रशान्त महासागर की तलहटी में पड़े हुए घोंघों का भी जो कुशल-संवाद पूछता है, वही मानव-मस्तिष्क क्या अपने विषय में भी उतना ही सचेत कहा जा सकता है? मनुष्य को देव बनने का जो अधिकार था, हमने स्वयं ही उसे पैरों तले रौंद डाला है। हमने मनुष्य की महिमा को नापने के लिए, उसकी गुरुता को तौलने के लिए जो बाँट कल्पित किये हैं, उनमें प्रज्ञा या ज्ञान-चक्षु को छोड़कर अन्य सब चीज़ों का महत्त्व हम मानते हैं। इस विश्वव्यापी संकर ने हम सबके विचारों को किसी-न-किसी अंश में अपवित्र कर दिया है।

हम चारों ओर प्राकृतिक जगत् में ज्योति और तम का द्वन्द्व देखते हैं। रात और दिन में, कृष्ण और शुक्ल पक्ष में, दक्षिणायन और उत्तरायण में, तम और ज्योति का बटवारा हमारे सामने है। यही क्रम आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् में भी व्याप्त है। देव और असुरों के युद्ध की जो कथाएँ हैं, उनका सत्य जीवन का नित्य सत्य है। 'हे इन्द्र, न तुमने पहले कभी युद्ध किया, न आज तुम्हारा कोई बैरी है। वृत्र आदि असुरों के साथ तुम्हारे युद्ध की जो कथाएँ हैं, वे सब माया हैं। इतिहास में कभी देवासुर नहीं हुआ। प्रजापति ने जिनको पाप से बींध दिया वे ही असुर थे' (शतपथ ११।१।६।१७)। पाप और तम ही असुरों का रूप है। सत्य की अनुभूति से पहले का व्यक्ति तप का पुंज है। मनुष्य के भीतर जो ज्ञान है, वही तो प्रकाश का रूप है। मनुष्य से मनुष्य का जो भेद है, वह ज्ञानकृत ही है। हमारे शरीरों की रचना एक-सी ही है। यह हमारा मर्त्य या मानुषी भाग है। मन हमारा उच्च या अमृत भाग है। मन को दैवी ज्योति कहा जाता है। मन के द्वारा ही मनुष्य अपने आपको उच्च-से-उच्च देवासन पर प्रतिष्ठित कर सकता है। मन की साधना ज्ञान की साधना है। शरीर के क्षेत्र में हम देश-काल से बँधे हैं, एक-दूसरे से पृथक् हैं। मन के क्षेत्र में हम अपने आपको पूर्वजों के भी पूर्व ऋषियों के गोत्र में सम्मिलित कर सकते हैं। यह ज्ञान का कुटुम्ब सब देश और सब कालों में प्राप्त हो सकता है।

कारलाइल ने ज्ञान के प्रांगण में प्रवेश पाने के इच्छुक मनुष्य के लिए कहा है कि उसे रहस्यमय अग्नि से अपनी आत्मा का प्रोक्षण करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार अग्नि-दग्ध नहीं हुआ वह राख का ढेर है, उसमें जीवन की लौ का अभाव है। नचिकेता की कथा का भाव भी यही है। किसी एक क्षण में उसके मन में श्रद्धा ने प्रवेश किया (तस्मिन् श्रद्धा आविवेश)। जीवन के रहस्य को समझ लेने की जो अटूट अभिलाषा है, वही यह सात्विकी श्रद्धा है। इसी श्रद्धा की एक चिनगारी को पाकर हमारा सारा मनश्चक्र प्रतप्त हो उठता है। कब किस प्रकार यह ज्योति का संबंध मनुष्य को प्राप्त हो सकता है, यह कहना बहुत कठिन है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि साधन इसी की प्राप्ति के लिए हैं। उपनिषदों ने कहा है कि ज्ञान की प्राप्ति कुछ-कुछ स्वयम्वर के ढंग से होती है। आत्मा जिसका वरण करती है, उसी के सामने अपना कृत्स्न रूप प्रकट करती है। कवि की प्रतिभा भी स्वयं ही उसको चुनती है। और यही नियम ज्ञानी के लिए भी सत्य है।

पृथ्वी की कहानी

सुदूर भूतकाल में हिमानी की प्रक्रिया द्वारा बहाकर दूर तक लाया गया एक विशाल शिला-खण्ड। (फ़ो०—'जियालाजिकल म्यूज़ियम एण्ड सर्वे')
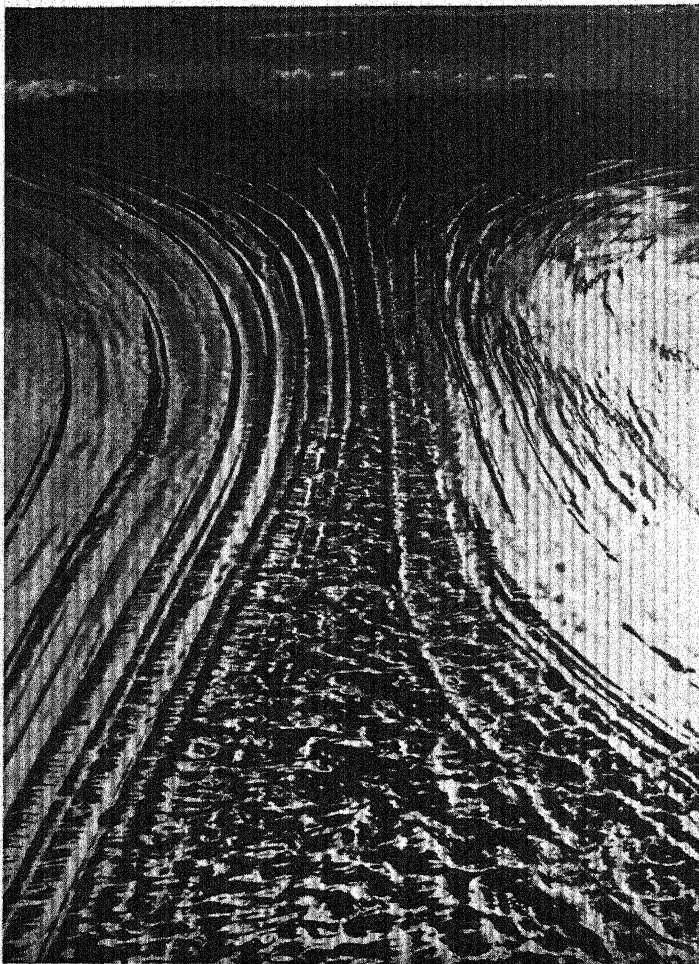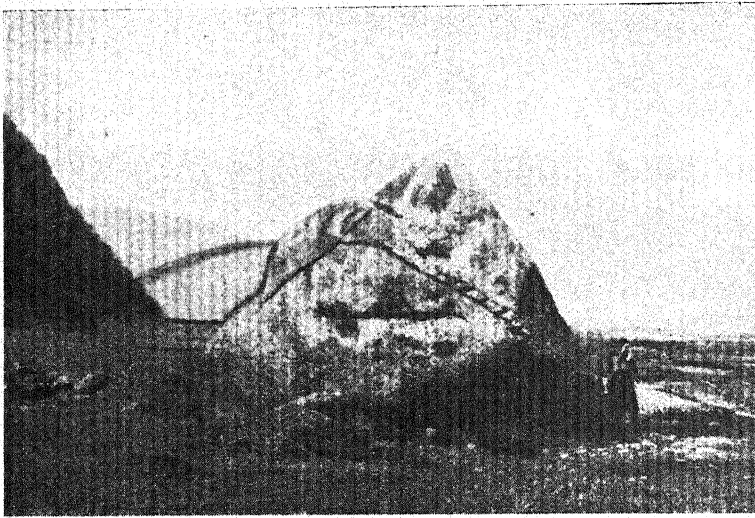
हिमानी के प्रवाह-मार्ग की घाटी का रूप बड़ा विचित्र हो जाता है। जल-धारा के स्वभाव के विरुद्ध हिमानी बड़े-से-बड़े और नन्हें-से-नन्हें शिलाखण्डों, कंकड़-पत्थरों और रेणुका-राशि को अपने साथ समान गति से बहाती हुई आगे बढ़ती है। इस चित्र में अलास्का की सबसे बड़ी हिमानी 'मालास्पिना ग्लेशियर' के 'लिब्बे ग्लेशियर' नामक एक अन्य हिमानी के साथ संगम का दृश्य है। हिमानी के प्रवाह को सूचित करने-वाली समानान्तर रेखाओं पर ध्यान दीजिए। यह फ़ोटो आकाश में १४००० फ़ीट की ऊँचाई से उड़ते हुए हवाई जहाज़ द्वारा लिया गया था। वास्तव में हिमानी की धारा में दिखाई दे रहे काले या सफ़ेद छोटे-छोटे धब्बे सौ-डेढ़ सौ फ़ीट से भी अधिक ऊँचे और ऊबड़-खाबड़ मिट्टी और बर्फ़ के टीले हैं, जिन्हें हिमानी अपने साथ बहा ले जा रही है।
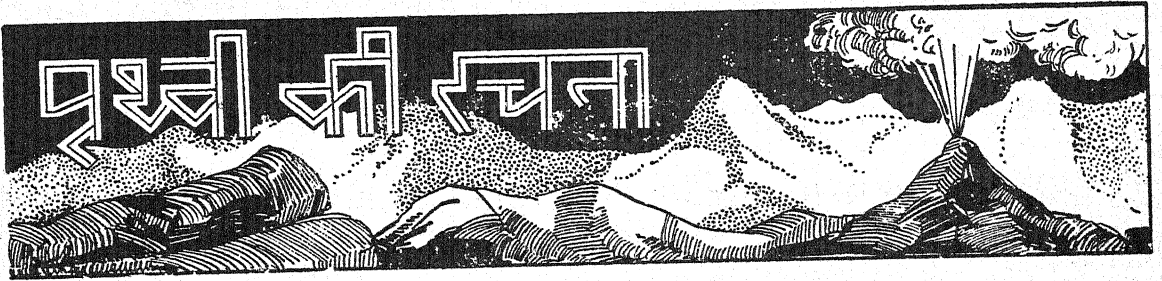
हिमानी और हिमावरण का भूतत्त्विक कार्य

प्रवाह-प्रदेश को घिस और छीलकर समतल बनाना, छीलन और शिलाखण्डों को स्थानान्तरित करना, तथा उन्हें स्थान-स्थान पर जमा करके नये-नये दृश्यों की रचना करना, ये भूतत्त्विक क्रियायें हिमानी और हिमावरण के द्वारा किस प्रकार होती हैं, आइए, इस लेख में देखें।

शीतकाल में बहुत ही अधिक बर्फ़ गिरने और ग्रीष्म में बहुत थोड़ी मात्रा में बर्फ़ पिघलने से कुछ प्रदेशों में हिम की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वह वहाँ के पर्वत, घाटी और मैदान सभी पर मोटे लबादे की भाँति छा जाता है। इस प्रकार वहाँ चारों ओर हिम-ही-हिम दिखाई देता है, मानों सारी पृथ्वी हिम की ही बनी हो। इसी को 'हिमावरण' कहते हैं।

ग्रीनलैण्ड का अधिकांश भाग अखण्ड हिमावरण से मण्डित है। इस हिममण्डित प्रदेश का विस्तार ७००००० वर्गमील के क्षेत्रफल में है। हिमावरण की मोटाई यद्यपि समस्त क्षेत्रफल में एक ही नहीं है तथापि कहीं-कहीं वह हज़ारों फ़ीट है। ग्रीनलैण्ड के केन्द्रीय हिमावरण के पपड़े की मोटाई ८८५० फ़ीट है। सारे पर्वत, पठार, घाटी और मैदान इससे ढके पड़े हैं। समस्त हिममण्डित प्रदेश उजाड़ खण्ड हैं, जहाँ जीवन का नामनिशान भी नहीं है। यहाँ प्रायः भीषण आँधियाँ चला करती हैं, जो अपने साथ बर्फ़ भी ले आती हैं, जिससे इस हिमावरण की मोटाई कम नहीं हो पाती। अन्टार्कटिक महाद्वीप तो इससे भी अधिक विस्तारवाले हिमावरण से ढका है जिसका क्षेत्रफल ५०००००० वर्गमील से भी अधिक है।

हिमावरण और हिमानी में आकार और विस्तार का अन्तर तो है ही, साथ ही एक अंतर यह भी है कि हिमावरण हिमानी की भाँति घाटियों में ही परिमित रहनेवाला नहीं है, वरन् पर्वतों और घाटियों के उपर पर्त की भाँति समान रूप से चढ़ा रहता है, जिससे कहीं-कहीं ऊँचे पहाड़ों की चोटियाँ भी छिप जाती हैं। हिमावरण आजकल केवल ग्रीनलैण्ड, अन्टार्कटिका व आईसलैण्ड में ही अधिकतर पाया जाता है। पूर्वकाल में विशाल विस्तृत हिमावरण उत्तरीय अमेरिका, योरप तथा पैंटागोनिया आदि प्रदेशों को भी पूर्णतया ढके हुए था। यद्यपि इसको नष्ट हुए सहस्रों वर्ष बीत गये हैं तथापि उसकी भूतत्त्विक प्रतिक्रियाओं के चिह्न अभी तक बचे हुए हैं और उन्हें देखकर यह पता लगाया जा सकता है कि उक्त हिमावरण का विस्तार, व्यवहार और आकार-प्रकार कैसा रहा होगा। यही जानने के लिए भूतत्त्ववेत्ता आधुनिक हिमानी और हिमावरण के रहस्यों को खोजते फिरते हैं।

जो प्रदेश हिमावरण अथवा हिमानी के शिकार हो चुके हैं, उनके रंग-रूप और आकार से न केवल वहाँ पर हिम के प्रभाव का पता चलता है, वरन् विभिन्न और निश्चित चिह्नों से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि इन प्रदेशों पर हिमानी का प्रभुत्व था अथवा हिमावरण का, क्योंकि दोनों की प्रतिक्रियाएँ और भूतत्त्विक कार्य बहुत-कुछ विभिन्न होते हैं।

हिमानी का कार्य

विशाल शिलाखण्डों और पर्वतों के निकट चट्टानों, रोड़ों, पत्थरों और शिलाखण्डों का छितरा रहना स्वाभाविक ही है, क्योंकि विशाल चट्टानों के अंश क्षतविक्षत होकर गिरते रहते हैं और उनके आस-पास ही फैले रहते हैं। परन्तु यदि ये छोटे-छोटे खण्ड उन चट्टानों से दूर ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ आस-पास दूर तक उस प्रकार की कोई चट्टान न हो, अथवा आस-पास की चट्टानें इन खण्डों से रचना में सर्वथा विभिन्न हों, तब स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि ये वहाँ कैसे आ गए। बहुधा विशाल शिलाखण्ड ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ चारों ओर दूर तक या तो कोई चट्टान, पर्वत या

पहाड़ी होती ही नहीं और यदि होती भी है तो उस शिलाखण्ड की चट्टान से विभिन्न चट्टानोंवाली। अपने विशाल आकार के कारण ये शिलाखण्ड जलधाराओं के द्वारा इतनी दूर तक बहकर आ सकते ही नहीं।

जलधारा द्वारा बहाकर लाए गये रोड़ों से ये न केवल आकार में ही विशाल होते हैं, वरन् उनका स्वरूप भी विभिन्न होता है। इस प्रकार के सभी ढोके कंघी द्वारा बनाई गई धारियों के समान धारियों से युक्त धरातलवाले होते हैं। इनको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मोटी रेती इनके ऊपर घिसी गई है और रेती की रगड़ के चिन्ह अभी तक मिट नहीं पाये हैं।

सन् १८३७ ई० में लुई अगाशेज़ नामक एक स्विस वैज्ञानिक ने यह अनुभव किया कि आल्प्स पर्वतश्रेणियों की नीची घाटियों में, जहाँ बर्फ़ नहीं जमती, पत्थरों, रोड़ों और शिलाखण्डों के बिल्कुल उसी आकार और स्वरूप के ढेर पाये जाते हैं जैसे कि ऊँची बर्फ़ीली घाटियों में बहनेवाली हिमानी अपने साथ बहाती और नीचे स्थानों में जमा करती रहती है। इस अनुभव से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी समय में अवश्य ही इन निचली हिमविहीन घाटियों में भी हिमानी का आधिपत्य था और उसी के परिणामस्वरूप इन घाटियों में पत्थरों और रोड़ों के ऐसे ढेर जमा हो गए हैं।

अगाशेज़ के इस विचार ने लोगों को हिमानी के कार्य का अध्ययन करने में बड़ी सहायता पहुँचाई। ऊपर हमने जिन 'अनाथ' शिलाखण्डों का ज़िक्र किया है उनके विषय में भी लोगों ने खोज निकाला कि ये भी उन पत्थरों से मिलते-जुलते हैं जो आजकल की हिमानी द्वारा बहाकर लाये जाते हैं और स्थान-स्थान पर 'अरक्षित' और अनाथ-से छोड़ दिये जाते हैं।

जिन घाटियों में कभी हिमानी का प्रवाह होता था, उनकी दशा का अध्ययन करने पर वे उन घाटियों से सर्वथा विभिन्न प्रतीत होती हैं जिनमें कभी भी हिम का आधिपत्य नहीं रहा। यही विभिन्नता हिमानी के कार्यों का लेखा है, जो प्रकृति की पुस्तक के पृष्ठों पर स्वयं हिमानी द्वारा लिखा गया है। हिमानी के क्षयात्मक और निक्षेपात्मक कार्य साथ-ही-साथ होते हैं और भूपृष्ठ का परिवर्तन करने में दोनों ही कार्य क्रियात्मक होते हैं।

हिमानी की प्रक्रिया घिसाई (Abrasion), खुदाई (Quarrying), तुषारपात द्वारा मौसमी क्षति (Frost-weathering) आदि क्षयात्मक प्रणाली द्वारा होती है। स्थानान्तरित करने की क्रिया द्वारा हिमानी क्षतविक्षत और तोड़े हुए शिलाखण्डों को दूर पहुँचाती है और उनको स्थान-स्थान पर जमा करने की क्रिया उसकी निर्माणकारी प्रणाली का द्योतक है।

विशुद्ध बर्फ़ की शिलाओं द्वारा चट्टानों को किसी प्रकार की भी क्षति नहीं पहुँच सकती। परन्तु यदि हिमपिण्डों की तली में चट्टानों की चूरचार और रोड़े भरे हों तो हिमपिण्डों में चट्टानों का विदारण करने की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है। हिमानी की पेंदी में चट्टानों की चूरचार और शिलाखण्डों के गेड़े आदि का जमा होना स्वाभाविक ही है। मार्ग में बिखरे हुए रोड़े और शिलाखण्ड, हिमानी की शीतलता के प्रभाव से, शीघ्र ही हिममण्डित होकर हिमानी के पिण्ड में सम्मिलित हो उसके सहयात्री बन जाते हैं। नीचे की भूमि से भी हिमानी की रगड़ के प्रभाव से शिलाखण्ड उखड़-उखड़कर उसके साथ हो लेते हैं। पार्श्व की चट्टानों के बाहर निकले हुए अंश भी हिमानी की रगड़ से टूटकर उसके साथ हो लेते हैं।

घाटी में बहती हुई हिमानी के ऊपर पार्श्व की चोटियों और ढालों से शिलाखण्ड लुढ़क-लुढ़ककर आते ही रहते हैं। छोटी चूरचार और बड़े-बड़े शिलाखण्ड, जो हिमानी के ऊपर गिरते हैं, उस पर जम जाते हैं और उसी प्रकार हिमानी के ऊपर चढ़े हुए उस समय तक आगे बढ़ते रहते हैं जब तक हिमानी का अन्त नहीं हो जाता। हिमानी के नष्ट हो जाने पर उसके ऊपर लदा हुआ पदार्थ जहाँ-तहाँ जमा हो जाता है।

परन्तु जो खण्ड हिमानी की तली में दब जाते अथवा पार्श्व में फँस जाते हैं उन पर पूरी मार पड़ती है। वे हिमानी से दबे हुए मार्ग की चट्टानों से घिसटते, रगड़ते और ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते हैं। निरन्तर घिसटते रहने और रगड़ खाने से वे क्षीण और चपटे हो जाते हैं। बर्फ़ की पकड़ में तनिक भी ढील पड़ते ही उनको मुक्ति मिलती है और वे करवट बदल लेते हैं। परन्तु इससे उनके बचे हुए पहल भी रगड़ में आ जाते हैं। फल यह होता है कि प्रत्येक शिलाखण्ड में कई पहल बन जाते हैं और प्रत्येक पहल रगड़ के चिन्ह से युक्त हो जाता है। पहलों को विभाजित करनेवाली रेखा पतली धार के रूप में नहीं रह पाती, वरन् गोल और चिकनी बन जाती है। इन शिलाखण्डों का कोई निश्चित रूप और आकार नहीं होता। परन्तु हिमानी के द्वारा घिसे गए गोल धारवाले, कई पहलवाले शिलाखण्ड अन्य किसी भी भूतत्त्विक क्रिया से उत्पन्न नहीं होते। इसीलिए अपने अनोखे आकार-प्रकार से वे सहज ही पहचाने जा सकते हैं।

हिमानी की क्षयात्मक प्रक्रिया-प्रणाली मुख्यतः शिलाखण्डों और चट्टानों को रगड़कर घिसने तथा उन्हें उखाड़कर अलग कर देने या दूर हटा देने की है। तली में जमे हुए रोड़े, कंकड़ और पत्थर चट्टानों को रगड़ते तो हैं ही, साथ ही उन्हें कहीं खोखला करते, कहीं घिसकर चमकाते और कहीं खरोंचते भी जाते हैं। मार्ग की समतल और ऊबड़-खाबड़ सभी चट्टानें इनकी रगड़ से घिसकर चिकनी होती जाती हैं। इस प्रकार से घिसी हुई चट्टानों का रूप विचित्र ही हो जाता है। इस तरह के दृश्यवाली चट्टानों को फ्रेंच-भाषा में 'Roches Mountonnees' कहते हैं।

अपने प्रवाह-मार्ग को रोकनेवाले तथा पार्श्व की ओर से आगे बढ़े हुए एवं निराधार शिलाखण्डों को उखाड़कर तथा अपने साथ लेकर हिमानी उन्हें दबाये हुए आगे बढ़ती है। इस क्रिया का अधिक प्रभाव जोड़ों और संधियों से युक्त चट्टानों पर ही अधिक पड़ता है। जोड़रहित चट्टानों से शिलाखण्ड सहज में मुक्त नहीं हो पाते। ऊर्ध्वाधर तथा अधिक झुके हुए जोड़ या पर्तों वाली चट्टानों से बड़े-बड़े खण्ड सरलतापूर्वक उखड़ जाते हैं।

तुषार द्वारा चट्टानों को नष्ट करने की प्रक्रिया का हाल हम पहले ही बता चुके हैं। यदाकदा हिमानी के हिम के पिघलने से उत्पन्न हुआ जल चट्टानों की दरारों और जोड़ों में भर जाता है, जिसके प्रभाव से विशाल शिलाखण्ड क्षतविक्षत और खण्ड-खण्ड होकर गिर जाते हैं। यह प्रक्रिया हिमानी के नीचेवाली चट्टानों में तो होती ही है, साथ ही उन चट्टानों में अधिक होती है, जो हिमानी से ऊँची होती हैं और खुली होती हैं। इनके क्षत-विक्षत अंशों को भी हिमानी अपने ऊपर लादकर ले जाती है।

हिमानी के शिलाखण्डों को स्थानान्तरित करने की क्रिया जलधाराओं की क्रिया से सर्वथा भिन्न होती है। हिमानी के ऊपरी धरातल पर जो शिलाखण्ड गिरते रहते हैं वे हिमतल पर सवारी करते हुए सरलता से दूर पहुँच जाते हैं। जलधाराओं द्वारा बहाए गए पत्थर और रोड़े जल से भारी होने के कारण शीघ्र ही तलहटी में पहुँच जाते हैं और फिर भ्रमरजाल में पड़कर ही ऊपर आ पाते और आगे बढ़ पाते हैं। हिमानी का बहुत कम बोझा मार्ग में छूट पाता है। अधिकांश को वह अपने साथ अपने अन्तिम ठौर तक घसीट ले जाती है। अन्त में जब हिमानी का ही अन्त हो जाता है, तब बोझा भी अपनी यात्रा समाप्त करके वहीं 'ढेर' हो जाता है। हिमानी के ऊपर और नीचे दोनों ही तल कंकड़, पत्थर और रोड़ों को स्थानान्तरित करने में काम आते हैं। इनके बीच में स्वच्छ हिमशिला रहती है। दोनों पार्श्व में भी शिलाखण्ड फँसे हुए आगे खिसकते हैं।
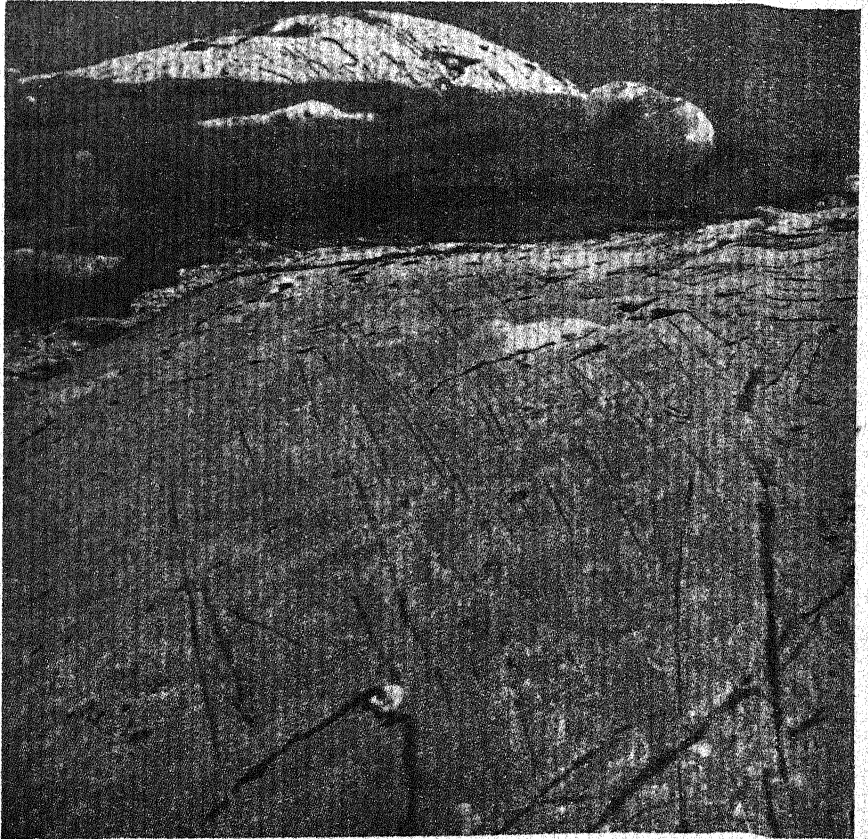
हिमानी की प्रक्रिया द्वारा रगड़े और घिसे गए चट्टानी धरातल का एक नमूना

जलधारा के स्वभाव के विपरीत, हिमानी बड़े-से-बड़े और नन्हें-से-नन्हें शिलाखण्ड और रेणुकाराशि, सभी को समान गति से अपने साथ लेकर आगे बढ़ती है।

हिमानी के मूल के निकट का और उसके प्रवाह-मार्ग की घाटी का विचित्र और अनोखा रूप हो जाता है। जिन घाटियों में हिमानी का अस्तित्त्व है अथवा कभी रह चुका है, उनको साधारण जलधाराओंवाली घाटियों से अलग पहचान लेना कठिन नहीं है। हिमानी के स्मारक चिह्न ऐसे गहरे और स्पष्ट होते हैं कि प्रकृति को भी उनके मिटा सकने में बहुत समय की आवश्यकता पड़ती है। पृथ्वी के इतिहास में एक समय ऐसा भी था जब पृथ्वी का अधिकांश भाग ठण्डा हो गया था और धरातल पर हिमावरण छा गया था। उस काल के चिह्न अनेकों स्थानों पर अब भी सुरक्षित हैं और उस महान् युग की याद दिलाते हैं।

हिमानी में बहकर आनेवाले हिम का मूल स्रोत सदैव हिम-रेखा से ऊँचे स्थानों पर ही होता है, परन्तु हिमानी हिमरेखा से कई सहस्र फ़ीट नीचे तक उतर आती है। आल्प्स पर्वत की हिमानी बहुधा समुद्र-तल से २००० फ़ीट ऊँची भूमि तक बहकर आती हैं। न्यूज़ीलैण्ड में हिमानी का अन्तिम छोर उष्ण प्रदेशीय चीड़ के सघन वनों तक में प्रवेश कर जाता है।

हिमानी जैसे ही हिमरेखा से नीचे उतरती है, उसके धरातल का हिम गलने लगता है। तली के हिम में भी धरती की उष्णता के प्रभाव से सलिलता आ जाती है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे हिमानी नीचे उतरती है, उसके हिम की स्थूलता कम हो जाती है। अन्तिम छोर में तो नाममात्र को ही हिम रह जाता है। हिम में फँसे हुए कंकड़, पत्थर और रोड़े तथा बालुकाकण धीरे-धीरे अभिमुक्त होने लगते हैं। जब हिम की मात्रा बहुत कम हो जाती है और ये सब हिम के नीचे छिपे नहीं रह सकते, तब यहाँ तक होता है कि इस कंकड़-पत्थर के ढेर में हिम के अंश फँसे मालूम होने लगते हैं, अर्थात् हिम के स्थान पर अब उसके द्वारा बहाये गए कंकड़-पत्थर और रोड़ों की अधिकता हो जाती है और ऐसा मालूम होने लगता है कि रोड़ों और कंकड़-पत्थरों का यह ढेर हिमानी के अन्तिम छोर को आगे बढ़ने में बाधा दे रहा है।

उत्पत्ति, प्रवाह तथा प्रक्रिया के अनुसार हिमानी को विद्वानों ने कई श्रेणियों में बाँटा है।

सबसे अधिक महत्व उस हिमानी का है जो घाटी के दोनों पार्श्वों की सीमा में ही रहती है। इसकी चाल-ढाल जलधाराओं और झीलों की भाँति होती है। घाटी के पार्श्व से लटकी हुई शैलबाहुओं के नीचे हिमानी का प्रवाह होता है। उद्गमस्थान हिमानी की प्रक्रिया से अर्द्धगोल मंच के समान धँसा हुआ-सा प्रतीत होता है, जिसे 'सिरक' (Cirque) कहते हैं। हिमपिण्ड आ-आकर इसी धँसे हुए शैलखण्ड में एकत्रित होते हैं। हिमपिण्डों की अधिकता होते ही हिम बन्धन तोड़कर आगे फिसलने लगता है। हिमालय पर्वत के उच्च स्थलों में इस प्रकार के हिमागार बहुधा देखने में आते हैं। यदाकदा हिमानी बुझे हुए ज्वालामुखी पर्वत के कटोरे-सरीखे मुख में भर जानेवाले हिम से भी बह निकलती है। कहीं-कहीं हिमानी पर्वतों के ऊपर से लटकी हुई-सी निकल पड़ती है।

'सिरक' की रचना किस प्रकार होती है, विद्वानों के लिए यह प्रश्न बहुत दिनों तक एक पहेली बना रहा। इसका रहस्योद्घाटन सर्वप्रथम संयुक्त राज्य (अमेरिका) के भूतत्त्विक पड़ताल विभाग के स्वर्गीय डब्ल्यू० डी० जानसन तथा एफ़० ई० मालथेज ने किया था। उनका कहना था कि सिरक की रचना हिमानी की उत्पत्ति के पूर्व हिम के द्वारा ही होती है। पर्वतों के ढालों पर जो हिम एकत्रित हो जाता है उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप चट्टानों के धीरे-धीरे नष्ट होने से खोखली जगह बन जाती है जिसमें धूप की तेज़ी से पिघले हुए हिम का जल इकट्ठा होता रहता है। छिद्रों और दरारों में जल भर जाने पर जब शीतलता के कारण जमकर फिर हिम बनता है तो आयतन बढ़ जाने के कारण वह शिलाखण्डों को चूर-चूर कर देता है। जल की प्रतिक्रिया से इस प्रकार की क्षतविक्षत चट्टानों का चूर्ण अंश हटता रहता है और नई चट्टानों पर प्रक्रिया जारी रहती है। इस प्रकार पर्वतों के ढालों में स्वयं खुदाई होती रहती है और ढाल में बना हुआ छोटा-सा गर्त कालान्तर में विशाल हिमखड्ड का रूप धारण कर लेता है, जिससे हिमानी बह निकलती है।

जहाँ हिमानी हिमखण्ड से बाहर निकलती है उस स्थान पर हिम फट-सा जाता है और हिमानी और हिमखड्ड के बीच में चौड़ी दरार दिखाई देने लगती है। सिर्रानिवेदा पर्वत की एक ऐसी ही खाई में मि० जानसन १५० फ़ीट की गहराई तक उतर गए। खाई का फ़र्श सादी चट्टान था। यह देखकर उनके आश्चर्य का पार न रहा। इस फ़र्श पर हिम के स्थान पर स्वच्छ जल बहता था। शरद् ऋतु में इस खाई में भी बर्फ़ भर जाता था और हिमानी हिम-खड्ड में हिम से संबंधित जान पड़ती थी। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में फिर उसी स्थान पर दरार पड़ जाती थी।

हिमानी के द्वारा नई घाटियों की रचना नहीं होती, परन्तु पुरानी घाटियों का रूप-परिवर्त्तन अवश्य होता है। जितने अधिक दिन तक हिमानी किसी घाटी में रहती है उतना ही अधिक व्यापक और प्रकट इस परिवर्त्तन का स्वरूप दिखाई देता है। हिमागार से निकलकर हिमानी अपने जन्म के पहले की जलधारा-निर्मित्त घाटी में बह निकलती है। हिमानी का स्थूल शरीर जलधारा-निर्मित्त वक्र, सर्पिल तथा संकीर्ण घाटियों में समा नहीं पाता। फलस्वरूप संकीर्ण और सर्पिलाकार घाटी की तीव्र धारवाल शैलबाहुओं से हिमानी का संघर्ष आरम्भ हो जाता है। नित्यप्रति के संघर्ष से चट्टानें घिसती जाती हैं और शैलबाहुओं के अग्रभाग एवं तीव्र धारें घिस-घिसकर चिकनी और सीधी हो जाती हैं। V आकार की घाटियाँ, जो जलधारा की प्रक्रिया से बनी थीं, U आकार में परिवर्त्तित हो जाती हैं। इनमें हिमानी बिना रुकावट बहती रहती है।

शैलबाहुओं के घिस जाने से उनके बीच की सहायक नदियों की घाटियों का रूप भी बदल जाता है। इन सहायक नदियों की घाटियों के मुख हिमानी के संघर्ष के फलस्वरूप घिसते जाते हैं और पीछे हटते जाते हैं। परन्तु उनमें बहनेवाली नदी इतनी शीघ्रता से अपना तल गहरा नहीं कर पाती। फल यह होता है कि धीरे-धीरे सहायक नदी के प्रवेश-द्वार का ढाल नष्ट हो जाता है और उसको ऊँचाई से एकदम मुख्य घाटी में गिरना पड़ता है। जब हिमानी नष्ट हो जाती है तब इन लटकती हुई नदियों का जल झरने के रूप में मुख्य घाटी में बहता है। जिन घाटियों में इस प्रकार की झरनेंवाली सहायक नदियाँ पाई जाती हैं उनमें किसी समय हिमानी का बहना सिद्ध होता है। हिमानी की प्रक्रिया से घाटी चौड़ी और गहरी भी होती है।
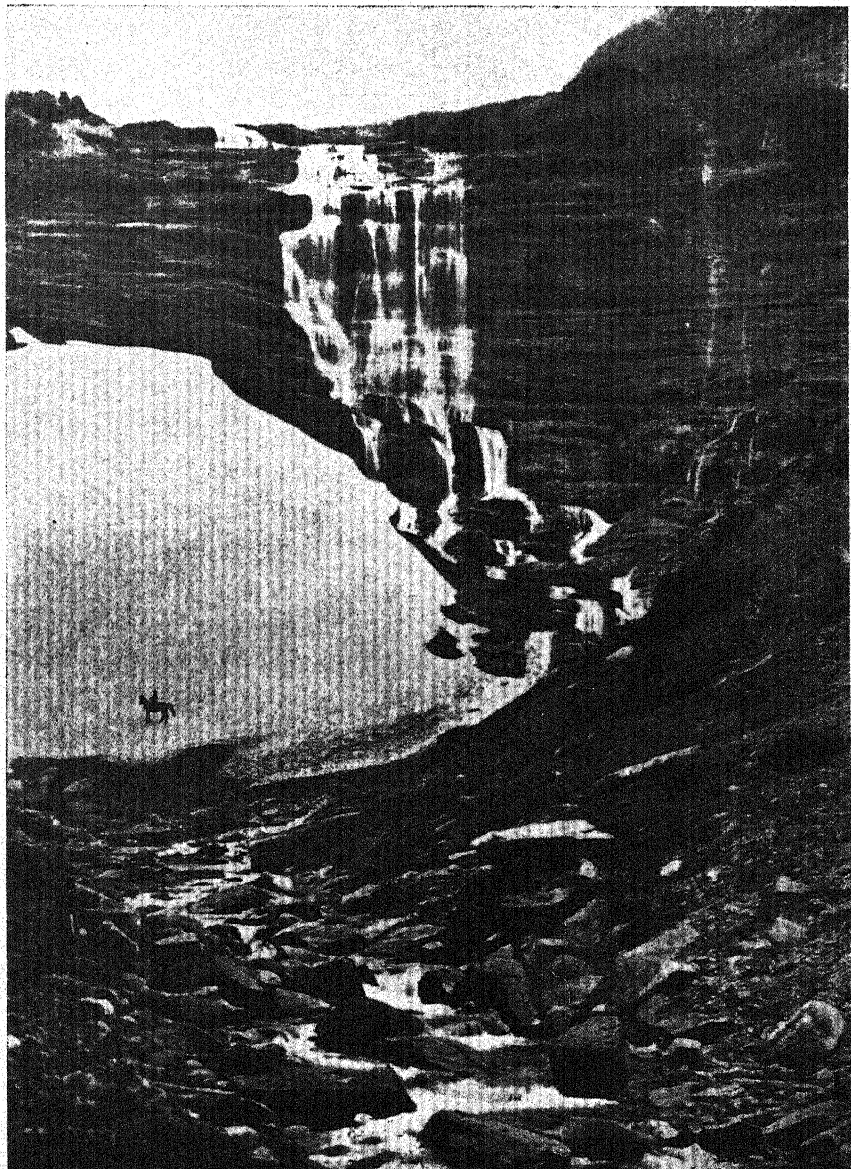
हिमानी की प्रक्रिया की याद दिलानेवाली एक घाटी—सुदूर भूतकाल में किसी समय एक हिमानी यहाँ बहती थी। उसके स्मारक के रूप में अब केवल यह झरना रह गया है।

कहीं-कहीं प्रधान घाटी के ढाल में भी हिमानी की प्रतिक्रिया से अपूर्व परिवर्त्तन हो जाता है। नतोदर कटाव-वाली घाटियों के समतलीय ढाल के स्थान पर संकीर्ण सीढ़ियों की पंक्ति बन जाती है, जिनका ऊपरी तल पीछे की ओर झुका होता है। हिमानी की रगड़ खाई हुई शिलाएँ चिकनी और गोल धारवाली होती हैं, साथ ही उनके तल हिमानी में फँसे हुए नुकीले शिलाखण्डों की रगड़ से उत्पन्न खरोंचों से भरे होते हैं। हिमानी के मार्ग की शिलाओं में इन विचित्र खरोंचों का होना आवश्यक ही है। इसी-लिए इस प्रकार के खरोंचों को 'हिमचिन्ह' के नाम से पुकारा जाता है। इन खरोंचों की प्रवृत्ति से यह जाना जा सकता है कि हिमानी का प्रवाह किस दिशा की ओर था।

जिस घाटी में हिमानी प्रवाहित हो चुकी है उसको सरलता से पहचाना जा सकता है। इस प्रकार की घाटियों के आदि छोर पर (हिमानी के मूल की ओर) हिमागार (सिरक) बना होगा। घाटी में तीक्ष्ण मोड़ न होंगे। परस्पर संलग्न शिलाबाहुओं का अभाव होगा। घिसकर क्षीण हो गई शिलाबाहुओं में ढलुवाँ त्रिकोण-तल बने होंगे। स्निग्ध शिलापट होंगे। घाटी का कटाव U आकार का होगा। धरातल की भूमि ढालू तो होगी, परन्तु समतल न होकर सीढ़ियों की पंक्ति के रूप में होगी। सहा-यक घाटियों के प्रवेश-द्वार प्रमुख घाटी के तल से ऊँचे 'टँगे'-से होंगे। अलास्का, लब्राडर, ग्रीनलैण्ड, स्केन्डि-नेविया और चिली आदि प्रदेशों के तटवर्त्ती फ़ियर्ड हिमानी की घाटी के अन्तिम छोर हैं।

शिलाओं की चूरचार हिम घुल जाने पर जल के नीचे बैठ जाती है। हिम के ऊपर लदा हुआ बोझा हिमानी के अन्तिम छोर पर जमा हो जाता है। इस ढेर में छोटे-बड़े कंकड़-पत्थर और रोड़े बड़ी विशृङ्खल रीति से जमा रहते हैं। लगभग सभी शिलाखण्ड खुरदरे और क्षत होते हैं। परन्तु थोड़े-से—लगभग ५ प्रतिशत—चिकने और चमक-दार तथा सुन्दर पहलवाले भी होते हैं। इनका ऐसा रूप धीरे-धीरे घिसते रहने से हो जाता है। हिमानी द्वारा एकत्रित किये गये ऐसे शिलाखण्डों की राशि को 'मोरेन' (Mo-raine) कहते हैं, यह हम पहले ही बता चुके हैं। इन टीलों के तीन रूप होते हैं, 'पार्श्ववर्त्ती', 'मध्यवर्त्ती' और 'अन्तिम'। पार्श्ववर्त्ती और मध्यवर्त्ती टीलों की खण्डराशि बिखरी हुई रहती है, परन्तु अन्तिम टीला शिलाखण्डों की घनी राशि के ढेर के रूप में होता है, जिसमें छोटे-बड़े खण्ड एक-दूसरे से सटे हुए जमा रहते हैं। इनकी ऊँचाई दो-चार फ़ीट से ५०-६० फ़ीट तक और कहीं-कहीं सैकड़ों फ़ीट तक होती है। परन्तु इतने ऊँचे टीले बहुत कम पाये जाते हैं। फैलाव इनका अधिक नहीं होता। अधिक-से-अधिक ये घाटी की चौड़ाई के बराबर फैलाववाले होते हैं। मध्यवर्त्ती भाग आगे की ओर उन्नतोदर होता है, जिससे ज्ञात होता है कि हिमानी का मध्य भाग पार्श्व की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील होता है। मध्य भाग जितनी तेज़ी से बढ़ता है उन्नतोदर भाग उतना ही अधिक आगे की ओर बढ़ा होता है।

जिन स्थानों पर हिम नष्ट होते ही जल का प्रवाह रोड़े, कंकड़, पत्थर आदि को तेज़ी से आगे बहा ले जाता है, वहाँ की घाटियों में अन्तिम टीलों का एकदम अभाव-सा होता है। अधिकतर ऐसा संकीर्ण और ढालू घाटियों में ही होता है।

ग्रीष्म ऋतु के दिनों में हिमानी पर चढ़नेवाले देखते हैं कि हिमानी के अन्तिम छोर के निकट के भाग का हिम पिघल-पिघलकर जल के रूप में बहता जाता है। जल का प्रवाह हिमानी के धरातल में बनी छोटी-छोटी नालियों में तो होता ही है, साथ ही हिमराशि के अन्तराल में भी जल-धाराएँ और जलप्रपात बहते हैं। इनकी गम्भीर घुटी हुई ध्वनि हिमानी के आस-पास बराबर सुनाई देती है। हिमानी के भीतर-भीतर सुरंगों के समान मार्ग बनाती हुई ये धाराएँ अन्त में हिमानी के बाहर निकल पड़ती हैं। हिमालय-सरीखी हिमाच्छादित पर्वतमालाओं में इस प्रकार की सहस्रों धाराएँ देखने में आती हैं। इन धाराओं में छोटे-छोटे शिलाखण्ड, बालुकण, मिट्टी और कीचड़ आदि भरे रहते हैं। ये सब पदार्थ हिमानी से ही बहकर आते हैं। धवल शिलाखण्डों के संघर्ष से उत्पन्न बालुकाराशि मैदे के सदृश हो जाती है। यह जल में मिलकर जल को इतना गँदला बना देती है कि जल दुग्ध-जैसा श्वेत प्रतीत होता है। हिमालय की लगभग सभी नदियों का जल उद्गम के समीप दुग्ध के समान दिखलाई पड़ता है और कहीं-कहीं लोग इन जलधाराओं को दुग्धधाराओं के नाम से पुकारते हैं।

हिमानी से मुक्त होते ही इन धाराओं में इस भार का तलहटी में बैठना और मार्ग में एकत्रित होकर रुक जाना आरम्भ हो जाता है। बड़े शिलाखण्ड और ढोके थोड़ी दूर तक लुढ़कते चलते हैं, परन्तु शीघ्र ही वे भी छूट जाते हैं। इसके बाद बड़े रोड़े और फिर महीन खण्ड, मिट्टी, बालू, रेणु आदि क्रमशः छूटते जाते हैं। केवल मिट्टी के सूक्ष्म कण जल में घुले हुए-से बहकर दूर चले जाते हैं और कभी-कभी सीधे सागर तक की यात्रा कर जाते हैं। धारा के बीच-बीच में भी महीन बालू और मिट्टी के फैले

हुए ढेर जम जाते हैं। इससे धारा कई अंशों में बँटकर वेणी के समान गुँथी हुई-सी लगती है। वेणी के समान रूप इस कारण हो जाता है कि ये धाराएँ अपना मार्ग शीघ्र ही बालू, मिट्टी और कीचड़ से भर देती हैं और उफ़नाकर दूसरा मार्ग ग्रहण कर लेती हैं। बार-बार मार्ग बदलने से अपनी जमाई हुई गाद और बालुकाराशि को वे काट-काटकर बहा ले जाती है। महीन कण बह जाते हैं, परन्तु भारी कण रुक जाते हैं। साधारण जलधाराओं के द्वारा बहाकर लाये गए शिलाखण्डों के कण गोलमटोल और बिना धारवाले चिकने तल के होते हैं, परन्तु हिमानी से उत्पन्न जलधाराओं द्वारा जमा किये गये कण अपने अनेक पहलों, खरोंचोंदार तल तथा मोटी धार के कारण अलग पहचाने जा सकते हैं।

हिमानी का जीवनचक्र

पृथ्वी की वर्तमान और भूतकालिक अवस्था के सम्बन्ध में हम जो कुछ भी जान पाये हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि किसी प्रदेश में हिमानी का होना उसी प्रकार स्थानीय और अल्पकालिक होता है, जैसे झीलों और सरोवरों का। एक ऐसे पहाड़ी प्रदेश की कल्पना कीजिए, जहाँ पर प्रचुर मात्रा में वर्षा का जल गिरकर सरिताओं द्वारा बह जाता है और जहाँ की जलवायु परिवर्तित होकर धीरे-धीरे शीतप्रधान होती जाती है। शीतकालीन तुषार धीरे-धीरे ग्रीष्म काल में भी जमा रहने लगता है। छोटे-छोटे हिमक्षेत्र बनने लगते हैं। तुषार और हिम की प्रक्रिया से चट्टानें स्वयं ही फटती हैं और नष्ट होने लगती हैं। धीरे-धीरे हिमागारों की रचना होती है। हिमागार का विस्तार बढ़ते ही उससे निकलकर छोटी-छोटी हिमानी आगे बढ़ने लगती हैं और शीघ्र ही ये जलधाराओं के द्वारा रचित घाटियों में उतर आती हैं। इन संकीर्ण घाटियों को क्षतविक्षत करती हुई वे उन्हें चौड़ी और गहरी बनाती चलती हैं। इन घाटियों में आनेवाली छोटी संकीर्ण सहायक घाटियाँ, जो हिमानीयुक्त हों या हिमानीरहित, टँगी हुई रह जाती हैं। शिलाबाहु घिसते-घिसते क्षीण होते जाते हैं और प्रधान घाटी अपनी वक्रता और सर्पिल आकार को छोड़कर बहुत कुछ सीधी बन जाती है। चट्टानों के संघर्ष से उत्पन्न चूरचार कुछ तो हिमानी के पार्श्वों में जमा हो जाता है और कुछ तली में फँस जाता है। कुछ को हिमानी से उत्पन्न जलधाराएँ बहा ले जाती हैं।

घाटियों के गहरी और चौड़ी होने के साथ-साथ पर्वत
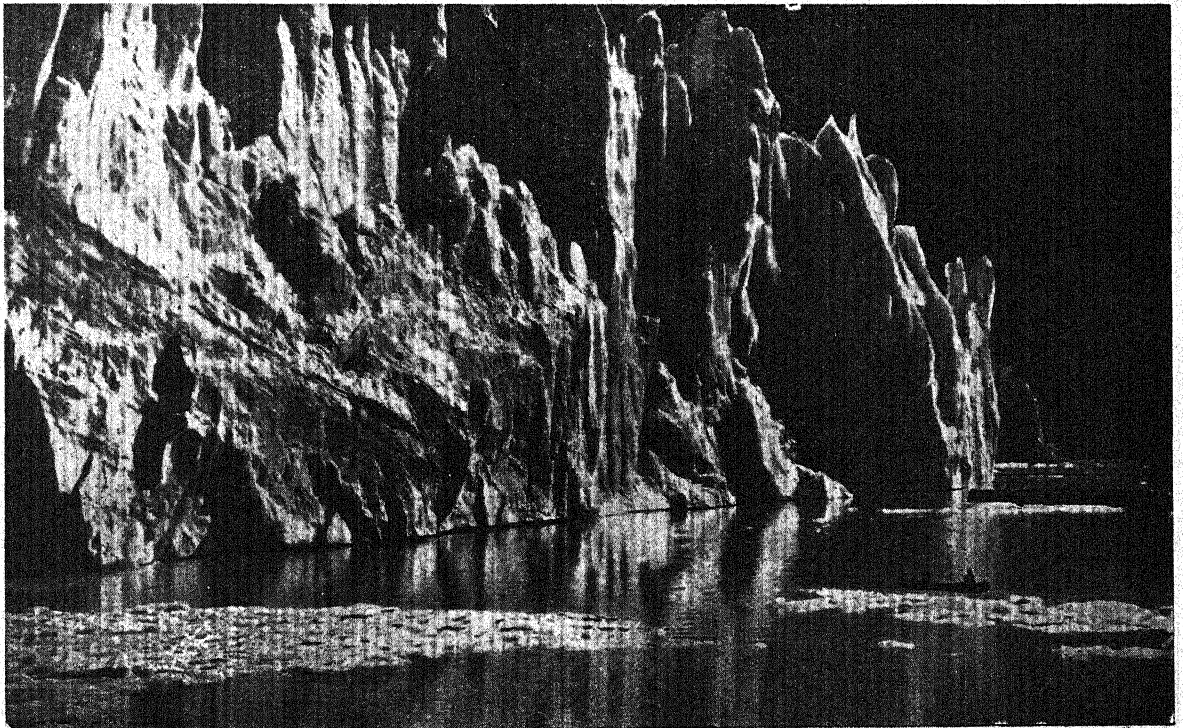
अलास्का की 'क्लिान ग्लेशियर' नामक हिमानी का अंतिम छोर जहाँ यह हिमानी समाप्त होकर क्लिान झील में मिलती है। हिमानी के अंतिम छोर की यह बर्फ़ीली दीवार पानी से १६० फ़ीट ऊँची है और प्रति दिन दो फ़ीट आगे को खिसकती है। इसमें से धँसकर विशाल हिमखण्ड जल में गिरते रहते हैं।

के ऊँचे शिखर तुषारपात के कारण क्षत होते जाते हैं, और क्षीणकाय हो जाते हैं। साथ ही तुषार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनके ढालों पर उत्पन्न हुए हिमागार विस्तृत और विशाल रूप धारण कर लेते हैं। शिखर के दोनों ओर के ढालों पर यदि हिमागार बन जाते हैं तो दोनों का विस्तार बड़ी शीघ्रता से ऊपर की ओर बढ़ता है और थोड़े ही समय में बीच का जल-विभाजक छुरे की तीक्ष्ण धार के समान पतला पड़ जाता है। निरन्तर तुषार की प्रक्रिया से क्षतविक्षत होते रहने के कारण इस पतली श्रेणी की तीक्ष्णता बढ़ती ही जाती है। धीरे-धीरे दोनों दलोंवाले खड्ड इतने ऊपर तक विस्तृत हो जाते हैं और इतने गहरे हो जाते हैं कि उनके बीच की शिलाएँ भी नष्टभ्रष्ट हो जाती हैं और उस स्थान में पर्वत-श्रेणी खाली हो जाती है, जो कालान्तर में अधिक चौड़ी और गहरी होने तथा हिम नष्ट हो जाने पर दर्रे का रूप धारण कर लेती है। ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के बीच-बीच में पाये जानेवाले दर्रों की रचना इसी प्रकार होती है।

कभी-कभी पर्वत-श्रेणी के तीन या चारों ओर हिमागार बनने आरम्भ होते है। स्थूल पर्वत-शिखर इन हिम-खड्डों की प्रक्रिया से शीघ्र ही कई पहलयुक्त क्षीण पिरामिड के आकार में परिणत हो जाता है। आल्प्स पर्वत की श्रेणियों में मैटर्नहार्न और जंग फ्राउ नामक शिखर इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं।

अब यदि जलवायु में फिर परिवर्त्तन हुआ और धीरे-धीरे शीतलता कम होती रही तो जलवायु ग्रीष्मप्रधान हो जाती है। तुषारपात कम हो जायगा और हिमक्षेत्र में भी हिम की राशि घटती जायगी। हिमराशि के कम हो जाने से हिमानी की चाल मन्द हो जायगी और हिम पिघलने लगेगा। हिमानी के अन्तिम छोर पर अन्तिम टीले की मेहराबदार रेखा बनने लगेगी और उसके पीछे हिमानी से निकली हुई दुग्धधाराएँ अपने मार्ग को वेणी के समान गूँथती हुई बहने लगेंगी। अब अन्तिम टीला छोड़कर हिमानी मूल की ओर हटने लगती है। प्रत्येक अस्थायी छोर पर छोटे-छोटे 'अन्तिम टीले' जमा होते जाते हैं और हिमानी के ऊपर हटते ही छूट जाते हैं। इन टीलों की असंख्य पंक्तियाँ घाटी के धरातल पर कण्ठहार की लड़ियों के समान सुशोभित होती हैं। कभी-कभी इनके पीछे जल आबद्ध हो जाने से सुन्दर सरोवरों की रचना हो जाती है। यदाकदा इन सरोवरों का जल जब टीले की दीवाल को तोड़कर फूट निकलता है तो घाटी के निचले प्रदेश में अस्थायी बाढ़ आ जाती है।

कुछ वर्षों के उपरान्त हिमानी क्षीणकाय होते-होते एकदम विलुप्त हो जाती है और केवल हिमागार में छितरे हुए हिमांश टोपियों के रूप में जमा दिखाई देते हैं। हिमानी के नष्ट होते ही वर्षा का जल फिर अपनी घाटियों में आधिपत्य जमा लेता है और घाटी को अपनी इच्छानुसार गढ़ना आरम्भ कर देता है। कालान्तर में घाटी पर जलधाराओं और सरिताओं का आधिपत्य हुए इतने अधिक दिन बीत जाते हैं कि उनके अपने चिन्हों में हिमानी के अवशेष चिन्ह विलुप्त हो जाते हैं और कोई उस घाटी को देखकर कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसमें कभी हिमानी का भी आधिपत्य रहा होगा।

हिमानी और हिमावरण की उत्पत्ति का रहस्य

वैज्ञानिकों के बहुत माथापच्ची करने पर भी हिमानी और हिमावरण के रहस्य का सन्तोषजनक उद्घाटन नहीं हो पाया है। यह सभी वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि हिमावरण की उत्पत्ति किसी एक कारण विशेष से नहीं होती वरन् कतिपय कारणों के सम्मिलित प्रभाव से ही वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनमें हिमानी और हिमावरण उत्पन्न हो जाते हैं। जलवायु के परिवर्त्तन, सूर्य से पृथ्वी पर आनेवाली शक्ति में न्यूनाधिकता होना, स्थलखण्डों के विस्तार का घटना और बढ़ना, जलमण्डल की धाराओं का मार्ग-परिवर्त्तन, वायु का प्रकोप, वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड गैस तथा ज्वालामुखी की मात्राओं में न्यूनाधिकता होना आदि ऐसे कारण हैं, जिनका प्रभाव हिमावरण की उत्पत्ति पर पड़ता है।

पृथ्वी की रचना के इतिहास की खोज करनेवालों ने यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी के इतिहास में अनेकों बार ऐसे अवसर आए हैं, जब समस्त भूमण्डल हिमावरण से ढक गया है। धीरे-धीरे परिस्थितियों के परिवर्त्तन से हिमावरण के बाद पुनः उष्ण जलवायु का प्रभुत्व होता रहा है और फिर उष्णता कम होते-होते कालान्तर में हिमप्रधान जलवायु का प्रभुत्व होता रहा है। इस प्रकार हिमावरण का चक्र आदि काल ही से चलता रहा है। हिमावरण के नष्ट होने पर जो चिह्न पाये जाते हैं उनको देखकर यह प्रतीत होता है कि (भूतत्त्विक भाषा के अनुसार) थोड़े समय पूर्व ही उत्तरीय अमेरिका, ग्रीनलैण्ड, स्केन्डिनेविया, स्कॉटलैण्ड, आईसलैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी, पोलैण्ड और रूस के साईबेरिया प्रान्त तक इसका विस्तार रहा होगा। ग्रीनलैण्ड आदि में पाया जानेवाला हिमावरण इसी का अंश है जो कतिपय कारणों से नष्ट होने से बच

गया है। इसी प्रकार हमारे देश के उत्तरीय भाग में भी हिमावरण का आधिपत्य था, जिसका विस्तार हिमालय और तिब्बत तक था। इस हिमावरण के चिह्न अभी तक अवशेष हैं। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस हिमावरण का आधिपत्य पंजाब, काश्मीर तथा उत्तरीय युक्तप्रांत तक था।

पूर्वकालीन हिमावरण की मोटाई भी सहस्रों फीट तक रही होगी। समस्त भूखण्ड का पाँचवाँ भाग एक समय हिममण्डित अवश्य रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। बहुत-से प्रदेशों में चट्टानों के अध्ययन से सिद्ध हुआ है कि कई पर्तें ऐसे पदार्थ के बने हैं जिनकी उत्पत्ति हिमावरण के द्वारा ही हो सकती है। इन तहों के बीच-बीच में ऐसी तहें भी पाई जाती हैं, जिनकी रचना उष्ण जलवायु का होना सिद्ध करती है। इस सम्बन्ध में अधिक हम आगे किसी अध्याय में बतावेंगे।

हिमचिह्न से युक्त एक शिलाखण्ड, जिस पर अंकित खरोंचे किसी सुदूर भूतकाल में उस पर हिमानी की रगड़ की याद दिलाते हैं।

हिमावरण का प्रभाव धरातल के चिह्नों की रचना पर तो पड़ता ही है, साथ ही जलमण्डल पर भी इसका प्रभाव बहुत गहरा होता है। वायुमण्डल के जल के हिम में परिणत होने से हिमावरण की रचना होती है। वायुमण्डल में पाया जानेवाला जल किसी-न-किसी रूप में सागर से ही आता है। जब जल की बहुत अधिक मात्रा स्थल पर हिमावरण के रूप में बन्दी हो जाती है तब सागर में जल कम हो जाना स्वाभाविक ही है। यदि आज ध्रुवप्रदेशों का समस्त हिम जल बनकर सागर में मिल जाय तो सागर का तल ८० फ़ीट ऊँचा होकर बहुत से स्थलमण्डल को जलमग्न कर ले। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्वकाल में, जब पृथ्वी के अधिकांश भाग हिममण्डित होंगे, सागर का जल-तल बहुत ही नीचा रहा होगा। समस्त हिम पिघलकर जब सागर में पहुँचा होगा, तब सागर का जल-तल कम-से-कम १५० से ३०० फ़ीट ऊँचा उठ गया होगा।

इस प्रकार हिमावरण के द्वारा स्थल-मण्डल का रूप-परिवर्त्तन तो होता ही है, साथ ही सागर के तल में भी परिवर्त्तन होता है, जिससे सागर के द्वारा स्थल को क्षय करने का क्षेत्रफल बढ़ जाता है और स्थल के क्षय में दो अस्त्रों का एक साथ ही प्रयोग होता है। इस तरह हम देखते हैं कि भूमण्डल की रूपरेखा के निर्माण और क्षय के कार्य में हिमानी और हिमावरण का भी बहुत बड़ा हाथ है। हिमानी की गति जैसी धीमी होती है, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार धीरे-धीरे प्रकट होती है। परंतु मंद गति से होने पर भी इसका प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक होता है।
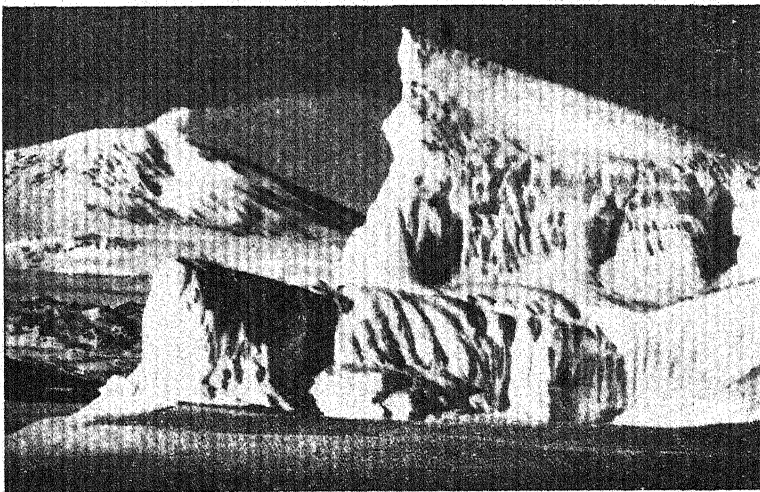
आज भी पृथ्वी का एक बहुत बड़ा भूभाग हिममण्डित है। ऊपर दक्षिणी ध्रुव पर स्थित अन्टार्क्टिक महाद्वीप के एक भाग का दृश्य है, जिससे ५०००००० वर्गमील में फैले हुए इस विस्तृत हिमावरणवाले प्रदेश की अवस्था का कुछ अनुमान हो सकता है। इसी तरह उत्तर में ग्रीनलैण्ड का विशाल द्वीप भी हिममण्डित है।
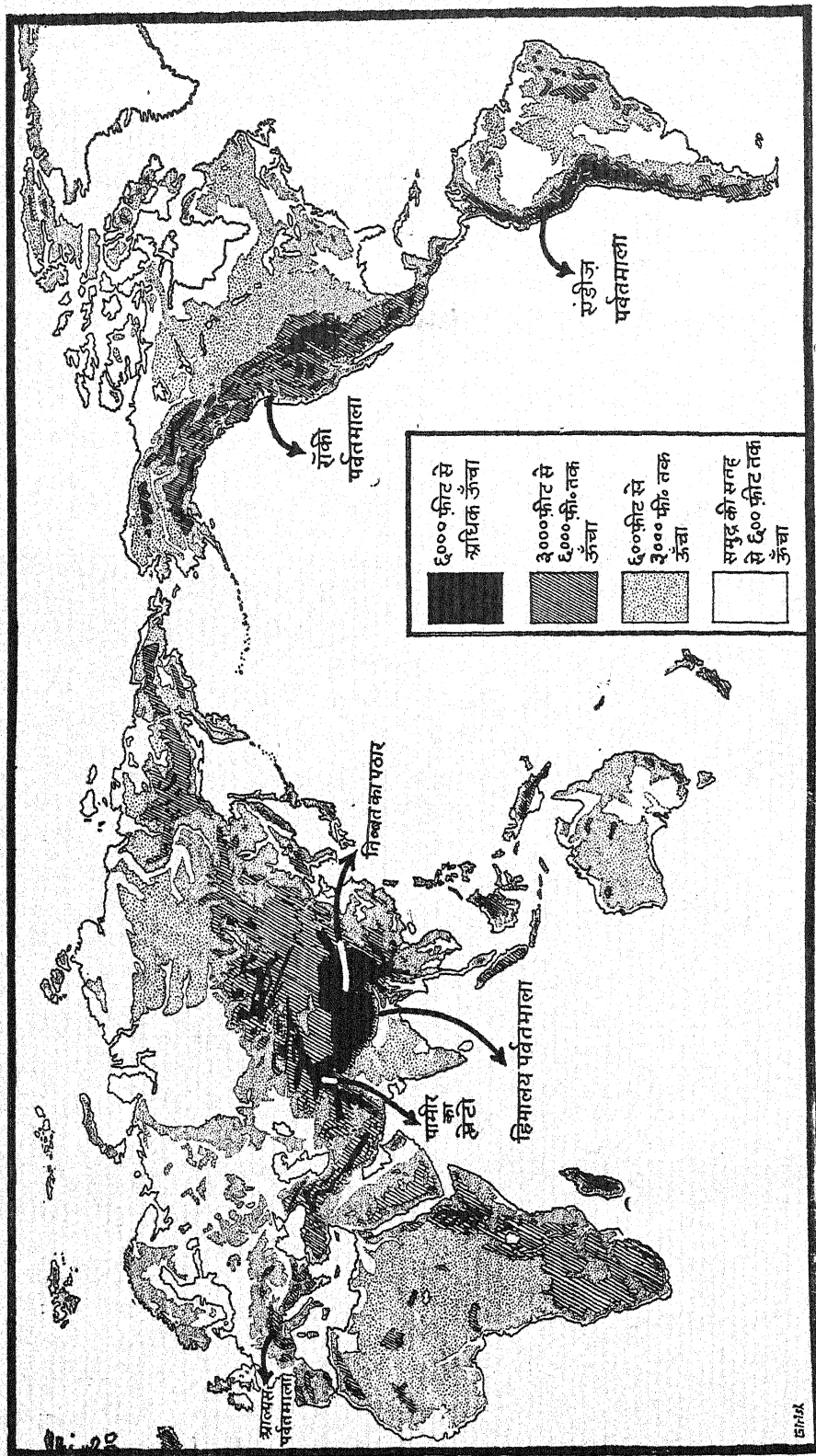
स्थलमण्डल की ऊँचाई-नीचाई का नक़शा

संपूर्ण स्थल का बहुत कम भाग ऐसा है जो सागर की सतह (Sea-level) से ६०० फ़ीट की ऊँचाई से कम है। १० प्रतिशत भाग की औसत ऊँचाई ६००० फ़ीट से अधिक है। ४० प्रतिशत भाग ६०० से ३००० फ़ीट तक ऊँचा है। शेष भाग ३००० फ़ीट से ६००० फ़ीट तक ऊँचा है। यदि समस्त स्थलखण्ड को सपाट कर दिया जाय तो उसकी ऊँचाई सागर की सतह से २३०० फ़ीट होगी। नक़्शे में विभिन्न संकेत-चिह्नों द्वारा भिन्न-भिन्न ऊँचाई दिखाई गई है।

स्थलमण्डल—पुरानी और नई दुनिया

२—पहाड़ और पठार या धरती के उच्च प्रदेश

पिछले अध्याय में हमने पृथ्वी के स्थलखण्ड की सीमा की बनावट का अध्ययन किया है। परंतु किसी देश की सीमा से ही हम उस देश का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। हमें यह जानना भी आवश्यक है कि उस देश की भूमि की बनावट कैसी है। इस अध्याय में हम पृथ्वी के स्थलमण्डल की ऊँचाई-नीचाई की जाँच करेंगे और देखेंगे कि स्थल पर कहाँ गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ हैं और कहाँ पर सपाट मैदान और नीची भूमि है तथा इनमें आपस में क्या सम्बन्ध है।

स्थल की ऊँचाई का आधार सागर का जलतल (Sea-level) माना जाता है। सागर के जलतल की रेखा से यदि हम स्थल के आकारों की ऊँचाई की तुलना करें तो हमको इन आकारों की पारस्परिक ऊँचाई का ज्ञान हो जाता है। पृथ्वी के स्थलतल की बनावट सब स्थानों पर एक ही समान नहीं है। कहीं की भूमि सागरतल से कई मील ऊँची है और कुछ स्थल केवल कई सौ फ़ीट की ऊँचाई पर ही हैं। कहीं-कहीं स्थल सपाट है और कहीं पर ऊँचे-ऊँचे ढाल। कहीं पर स्थल अपने आस-पास की भूमि से सहस्रों फ़ीट ऊपर उठा हुआ आकाश से बातें करने की चेष्टा करता है तो कहीं पर गहरी घाटियों के रूप में पाताललोक के दर्शन कराता है।

सम्पूर्ण स्थलखण्ड का पाँचवाँ भाग ऐसा है जो सागरतल से ६०० फ़ीट की ऊँचाई से भी कम है। केवल १० प्रतिशत स्थल भाग की औसत ऊँचाई सागरतल की अपेक्षा ६००० फ़ीट से अधिक है। २० प्रतिशत भाग (या दूसरा पाँचवाँ भाग) ६०० से १५०० फ़ीट तक ऊँचा है। लगभग इतना ही भाग ऐसा है, जिसकी ऊँचाई १५०० से ३००० फ़ीट तक है। शेष भाग (अर्थात् ६००० फ़ीट ऊँचे १० प्रतिशत स्थल को छोड़कर) ३००० फ़ीट से ६००० फ़ीट की ऊँचाई तक का है। यदि किसी आकस्मिक घटना के फलस्वरूप सागर के जल में बाढ़ आ जाय तो स्थल का बहुत-सा अंश जलमग्न हो जायगा। परन्तु सागर का जलतल ६००० फ़ीट नीचा हो जाने पर भी स्थल की सीमा का विस्तार अधिक नहीं होगा। इसका कारण यह है कि सागरतल का ८० प्रतिशत क्षेत्रफल, अर्थात् ११४०००००० वर्गमील के लगभग स्थल, ६००० फ़ीट से भी अधिक गहरा है।

यदि समस्त स्थलखण्ड को सपाट कर दिया जाय, अर्थात् ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों को नष्टभ्रष्ट करके समस्त स्थलखण्ड के नीचे स्थानों में भर दिया जाय, तो इस सपाट स्थलखण्ड की ऊँचाई सागरतल से केवल २३०० फ़ीट होगी। उसी प्रकार यदि समस्त जलमण्डल की तलहटी को समतल किया जाय तो उसकी गहराई सागरतल से १२०००—१३००० फ़ीट होगी। अर्थात् सागर के जलतल से स्थलतल की औसत ऊँचाई केवल आधा मील के लगभग है और सागर की तली की गहराई लगभग ढाई मील है। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पृथ्वीमण्डल का द्वितीयांश उसके शेष तृतीयांश से तीन मील गहरे गर्त्त में है।

स्थलमण्डल का सर्वोच्च स्थान हिमालय पर्वत का एवरेस्ट शिखर है। इसकी ऊँचाई सागरतल से २९१४२ फ़ीट अर्थात् साढ़े पाँच मील के लगभग मानी जाती है।

स्थल के प्रधान आकार धरती के धँसने अथवा ऊपर उठने से बनते हैं, परन्तु भूपटल का कोई भाग ज्योंही समुद्र के ऊपर उठता है त्योंही कई प्राकृतिक शक्तियाँ उसके रूप को बदलने में लग जाती हैं। इसी से पृथ्वी के भिन्न-भिन्न अंगों का जो रूप आदि में था वह आज नहीं है,

और जो रूप आज है वह भविष्य में बहुत-कुछ बदल जायगा। इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। उसी स्तम्भ में यह भी बताया जा रहा है कि पृथ्वी की रचना में आज-कल क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं। इन परिवर्त्तनों के होते हुए भी स्थल के प्रधान आकार बने ही रहते हैं। यह सम्भव है कि जहाँ आज पर्वत-श्रेणियाँ हैं वहाँ कल को मैदान हो जायँ और जहाँ आज मरुस्थल हैं वहाँ हरे-भरे मैदान बन जायँ, परन्तु स्थल के आकार बने ही रहेंगे—एक स्थान पर नहीं तो दूसरे स्थान पर ही सही। स्थल के प्रधान आकार, जो नष्ट नहीं होते चाहे उनका स्थान परिवर्त्तित हो जाय, मैदान, पठार और पर्वत तथा पर्वतों में पाई जानेवाली घाटियाँ हैं। सभी स्थलखण्ड इन चार प्रकार के आकारों से बने हैं। मैदान स्थल के नीचे भाग हैं और पठार तथा पर्वत उठे हुए भाग। घाटियाँ पर्वत-श्रेणियों या पठारों के अन्तर्गत अकस्मात् नीचे हो जानेवाले भाग हैं और ये बहुधा पर्वत-खण्डों की दो समानान्तर श्रेणियों के बीच में पाई जाती हैं। मैदानों, पठारों तथा पर्वतों की ऊँचाई-नीचाई की कोई निश्चित माप नहीं है। सागरतल से समान ऊँचाईवाले प्रदेश मैदान भी हो सकते हैं और पठार या पर्वत भी। वास्तव में इन आकारों की विभिन्नता उनकी बनावट (रचना) में है, ऊँचाई के कारण नहीं।

कुछ मैदानों की ऊँचाई सागरतल से कुछ ही फ़ीट ऊपर है और बहुत-से मैदानों की ऊँचाई सहस्रों फ़ीट है। अधिक ऊँचाई पर जो मैदान हैं वे बहुधा सागर-तट से दूर हटे हुए स्थल में हैं। यह सम्भव है कि मैदानों की ऊँचाई पठारों और पर्वतों से भी अधिक हो, परन्तु ऐसे मैदान भी अपने निकटतम पठारों और पर्वत-श्रेणियों से नीचे ही होंगे। इसका कारण यह है कि मैदान पर्वतों और पठारों के नष्टभ्रष्ट होकर घिसे हुए अंशों का ही नाम है। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ में बताया गया है कि जलधाराओं के द्वारा मैदान कैसे बनते हैं। सागर के द्वारा भी मैदानों की रचना होती है। ऐसे मैदान सागर-तट के निकट के स्थलखण्डों में पाये जाते हैं।

सागर-तटीय मैदानों की रचना दो प्रकार से होती है। या तो वे उस मिट्टी, बालू और काँप के निरन्तर जमते जाने से बन गए हैं जिसको नदियों ने हज़ारों वर्षों से ला-लाकर छिछले सागर (या महाद्वीपीय ढाल) पर इकट्ठा किया है; या वे महाद्वीपीय ढाल पर से सागर-जल के हट जाने से बन गए हैं।

अन्तर्स्थलीय मैदान जल, वायु आदि के प्रकोप से नष्ट हुए पर्वतों और पठारों के कणों के समतल रूप से बिखर जाने से बने हैं। मैदान स्थल के अधिकांश भाग में पाये जाते हैं और ये स्थल के महत्त्वपूर्ण आकार हैं। पृथ्वी की अधिकांश जनता मैदानों में ही रहती है। मनुष्य की क्रीड़ाभूमि वास्तव में पृथ्वी के मैदान ही रहे हैं और आज भी हैं। इसका कारण यह है कि मैदानों में आवागमन सरलतापूर्वक होता है, खेती आदि में रुकावट नहीं पड़ती, तथा प्राकृतिक कठिनाइयाँ कम होती हैं। स्थलखण्ड में होनेवाली खेती का अधिकांश मैदानों में ही होता है। नदियों को भी मैदानों में बहने में सरलता होती है और इसीलिए मैदानों में जल की कमी नहीं होती। संसार भर की घनी आबादी उपजाऊ मैदानों में ही पाई जाती है।

अब हम यह देखेंगे कि हमारे प्रधान स्थलखण्डों में कितना और कौन-सा भाग मैदान और कौन-सा पठार है तथा कितने भाग को पर्वत घेरे हुए हैं। हम अपना अध्ययन पुरानी दुनिया के स्थल-आकारों से आरम्भ करेंगे और सर्वप्रथम इस दुनिया के सर्वप्रधान महाखण्ड यूरेशिया को जाँचेंगे।

यूरेशिया की ऊँची भूमि का विस्तार योरप के दक्षिणी-पश्चिमी छोर से अटलांटिक महासागर के तट से आरम्भ होकर एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर पर पैसिफ़िक महासागर के तट पर समाप्त होता है। इस ऊँची भूमि की पट्टी यूरेशिया के मध्य भाग से कुछ दक्षिण की ओर फैली है। यूरेशिया के जितने भी प्रायद्वीप दक्षिण की ओर हैं, उन सभी में इस ऊँची भूमि की शाखाएँ चली गई हैं।

एशिया की पर्वतश्रेणियाँ

सिकुड़े हुए पर्वतों की एक लम्बी-चौड़ी श्रेणी इस महाद्वीप की बनावट की विशेषता है। इस पर्वतश्रेणी का केन्द्र पामीर-पठार है। परन्तु इस ऊँचे पर्वतीय प्रदेश का अधिकांश भाग भारत और बर्मा के उत्तर में फैला है। यदि हम हिन्दूकुश के पश्चिमी छोर और हिमालय पर्वत के एकदम पूर्वी छोर को मिलाती हुई एक रेखा खींचें और इस रेखा के दोनों छोरों को एशिया के उत्तरी-पूर्वी किनारे के अन्तिम सिरे से मिला दें तो जो विशाल त्रिभुज बनेगा उसी के भीतर एशिया का ऊँचा प्रदेश—पर्वत और पठार भाग—फैला है। इस त्रिभुज की भुजाओं से ढालू धरातल आरम्भ होकर नदियों के मैदान अथवा सागरतटीय मैदानों में समाप्त होता है।

सर्वोच्च प्रदेश भारत के उत्तर में हिमालय की गगन-चुम्बी श्रेणियों के अन्तर्गत है। पामीर-पठार से पर्वतों की श्रेणियाँ पश्चिम की ओर हिन्दूकुश, एलबुर्ज़ और काकेशश

इत्यादि पर्वतों से होती हुई योरप की पर्वतश्रेणियों से जा मिलती है। पूर्व में, एक ओर तो यह श्रेणी संसार में सर्वोच्च पर्वत हिमालय को उठाती हुई आस्ट्रेलिया की ओर निकल जाती है और दूसरी ओर यह क्यूनलून, किंघन और स्टैनोवोई पर्वतों से होती हुई उत्तरी अमेरिका की पर्वतश्रेणी से जा मिलती है। इस प्रकार एशिया की पर्वतश्रेणी का सम्बन्ध संसार की अन्य सभी पर्वतश्रेणियों से है।

एशिया की पर्वतश्रेणियों की एक विशेषता यह है कि इनसे घिरा हुआ सभी स्थल ऊँचा है, नीचा नहीं। एशिया के मानचित्र को देखने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। समस्त पर्वत-प्रदेश एशिया के लगभग आधे भाग को घेरे है और एशिया के स्थलखण्ड में एक महाविशाल चट्टान के रूप में उभरा हुआ है। इस उभरे हुए प्रदेश के धरातल पर (इस धरातल की ऊँचाई पृथ्वी के बहुत-से पर्वतों से भी ऊँची है, विशेषकर योरप के) बहुत-से पर्वतों की ऊँची चोटियाँ हैं जो सदैव हिमाच्छादित रहती हैं। इन हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियों के अन्तर्गत अनेकों घाटियाँ (जिनका धरातल योरप के ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से भी ऊँचा है) तथा अगणित ऊँचे-ऊँचे पठार हैं।

हिमालय और क्यूनलून पर्वत-श्रेणियों के बीच में तिब्बत का विस्तृत पठार है जो सागरतल से तीन मील की ऊँचाई पर है। इतनी ऊँचाई को भारत के प्रायद्वीप के अन्य ऊँचे-से-ऊँचे पर्वत भी नहीं पहुँचते। क्यूनलून के पार फिर पठार-प्रदेश है, जो तिब्बत की अपेक्षा बहुत नीचा है। इस पठार को तारिम बेसिन कहते हैं, क्योंकि इस पर तारिम नाम की नदी बहती हुई लावनार झील में गिरती है। इस पठार का विस्तार इस झील के बहुत आगे पूर्व में किंघन पर्वत-श्रेणियों तक चला गया है। यह विस्तार मंगोलिया का पठार है जिसका एक भाग प्रसिद्ध गोबी का रेगिस्तान है, जहाँ कभी भूलकर भी वर्षा नहीं होती।

तिब्बत और हिमालय के पूर्वी छोर पर पर्वत-श्रेणियाँ घूमती हुई एक दूसरे के समानान्तर इन्डोचाइना के प्रायद्वीप में घुस गई हैं।

यदि हम कैस्पियन सागर के दक्षिणी छोर से एक रेखा एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर तक खींचें तो यह रेखा पर्वतश्रेणियों की उत्तरी सीमा पर स्थित होगी।

एशिया के पश्चिमी प्रदेश में भी दूर तक ऊँची भूमि का विस्तार है। उत्तर में काले सागर और कैस्पियन सागर से लेकर दक्षिण में अरब सागर तक यह फैली है। यद्यपि यह स्थलखण्ड उच्च प्रदेश कहलाता है, तथापि इसकी ऊँचाई न तिब्बत के सदृश है और न पामीर के पठार के समान ही है, जिसे 'संसार की छत' (Roof of the World) कहते हैं। इस उच्च प्रदेश के तीन अलग-अलग खण्ड हो गए हैं। एक 'ईरान का पठार' कहलाता है। यह अरब सागर के उत्तर में और कैस्पियन सागर के दक्षिण के प्रदेश में फैला है। पूर्व में सुलेमान पर्वत की श्रेणियाँ इसको सिन्धु की घाटी से पृथक् करती हैं और उत्तर में इसके सिरे पर हिन्दूकुश और एलबुर्ज़ श्रेणियाँ हैं। दूसरा 'एशिया माइनर का पठार' है जो एशिया के एकदम पश्चिमी भाग में है। इसका विस्तार काले सागर और भूमध्य सागर के बीच में है। तीसरा पश्चिमी पठार 'अरब का पठार' है जो लालसागर के पूर्व में फैला है। यह एकदम सूखा और उजाड़ है।

योरप के उच्च प्रदेश

योरप की पर्वत-श्रेणियों की स्थिति एशिया के ही समान है। जिस प्रकार एशिया का दक्षिणी प्रदेश अधिकांश पहाड़ी है, उसी प्रकार योरप का भी है। हिमालय जिस प्रकार एशिया का सर्वोच्च पर्वत-खण्ड है, उसी प्रकार योरप का आल्पस पर्वत है। आल्पस पर्वत पुटीकृत श्रेणियों के समानान्तर विस्तार से बना है। इन श्रेणियों के बीच में गहरी और ढालू घाटियाँ हैं। आल्पस पर्वत-श्रेणियों की उँचाई योरप भर के पर्वतों से अधिक है। इन श्रेणियों का सैकड़ों मील लम्बा भाग हिमाच्छादित है और इन हिमाच्छादित श्रेणियों के बीच-बीच में स्वच्छ जल की झीलें भरी हैं, जिनसे योरप की बहुत-सी प्रमुख नदियों का जन्म होता है।

आल्पस पर्वत-श्रेणियों से कई शाखाएँ निकलकर इधर उधर फैल जाती हैं। कारपेथियन पर्वत-श्रेणियाँ पूर्व की ओर धनुषाकार फैली हैं। दक्षिणी योरप के तीनों प्रायद्वीप भी पहाड़ी प्रदेश के अंग हैं। पश्चिम में चौकोर 'आइबेरियन पठार' स्पेन और पुर्तगाल में फैला है और अटलाण्टिक महासागर के तट को छूता है। इस पठार में कहीं-कहीं ऊँची-ऊँची पर्वतमालाएँ हैं, जिनमें पिरेनीज़ की श्रेणियाँ प्रमुख हैं। ये श्रेणियाँ इस पठार-प्रदेश को योरप के प्रधान खण्ड से अलग करती प्रतीत होती हैं।

आल्पस से एक अन्य शाखा दक्षिण की ओर पैर के आकारवाले इटली के प्रायद्वीप की हड्डी के समान जाती है। सिसिली का पहाड़ी टापू इसके अँगूठे के समान स्थित है। पूर्व में आल्पस की श्रेणियाँ बाल्कन प्रायद्वीप के पठार को लाँघती हुई भूमध्यसागर तक पहुँच जाती हैं, जहाँ इनका अन्त छोटे-छोटे पहाड़ी टापुओं की शृंखला में होता है। योरप के दक्षिणी भाग के प्रायद्वीप सभी उच्चप्रदेशीय हैं।

अफ्रीका का पठार

अफ्रीका महाद्वीप की बनावट यूरेशिया से सर्वथा भिन्न है। इस विशाल स्थलखण्ड में बहुत-सी छोटी पर्वत-श्रेणियाँ हैं। और सब महाद्वीपों में लम्बे-चौड़े नीचे मैदान पाये जाते हैं, परन्तु अफ्रीका नीचे मैदानों से रहित है। यह सारा-का-सारा भूखण्ड दक्षिण भारत के पठार से ऊँचा है। वास्तव में, सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप एक विस्तृत पठार है, जिसकी सीमा और इस महाद्वीप की सीमा एक ही हैं। केवल कहीं-कहीं समुद्रतटीय प्रदेश ही नीची भूमि के उदाहरण हैं। परन्तु इनकी चौड़ाई बहुत कम है और इनके ऊपर एकाएक ही पठार की उँचाई आरम्भ हो जाती है। यहाँ की नदियाँ भी, यद्यपि उनमें से कई संसार की बहुत बड़ी नदियों में से हैं, अपनी घाटियों में नीचे मैदान नहीं बना पातीं। केवल नील नदी के डेल्टे की भूमि ही नीची है।

इस विस्तीर्ण पठार की उँचाई सभी जगह एक-सी नहीं है। पूर्व और दक्षिण की ओर अन्य भागों की अपेक्षा ऊँचाई अधिक है। इस ऊँचे भाग में चट्टानों के भ्रष्ट हो जाने और धँस जाने के कारण एक बहुत लम्बी और गहरी घाटी (Rift Vallay) बन गई है, जिसमें अफ्रीका की प्रमुख झीलें पाई जाती हैं। इन झीलों में से रूडाल्फ झील प्रसिद्ध है। अन्य झीलें एलबर्ट, एडवर्ड, टैंगानिका और नियासा हैं।

यदि हम लालसागर के मध्य से एक रेखा नाइगर नदी के उद्गम-स्थान तक खींचें तो इस रेखा के उत्तर का प्रदेश नीचा पठार और दक्षिण का प्रदेश, कांगो की घाटी को छोड़कर, ऊँचा पठार कहा जा सकता है। यह ऊँचा पठार-प्रदेश सपाट नहीं है, वरन् इधर-उधर कहीं बहुत ऊँचा भी हो जाता है। इसी प्रकार यदि एक रेखा लाल सागर के मध्य से अफ्रीका के दक्षिणी छोर तक खींची जाय तो यह ऊँची भूमि की द्योतक मानी जा सकती है। यह पर्वतश्रेणी हिमालय की भाँति बहुत विस्तीर्ण नहीं है, वरन् आसपास के पठार से अधिक ऊँची हो गई है और इसको पठार का सबसे अधिक उभरा हुआ भाग कहा जा सकता है। अबीसीनिया के पहाड़ इन्हीं श्रेणियों के अंग माने जा सकते हैं। अबीसीनिया के पहाड़ पुराने ज्वालामुखी पहाड़ हैं और लावा से ढके हुए हैं।

इस उच्च प्रदेश के अन्य छोर पूर्वीय और दक्षिणी तट तक चले गए है। यहाँ पर उनको ड्रेकनबर्ग पुकारा जाता है। मध्य में, विक्टोरिया झील के आसपास, इस उच्च प्रदेश की ऊँचाई सबसे अधिक हो गई है। यहीं पर अफ्रीका के सर्वोच्च शिखर केनया, किलिमाजारो और रूएन-ज़ोरी पाये जाते हैं। यद्यपि केनया पहाड़ भूमध्य रेखा पर हैं, तथापि उसकी चोटी पर सदा बर्फ़ ही जमी रहती है।

हमने ऊपर जो पहली रेखा की कल्पना की थी उसके उत्तर का प्रदेश यद्यपि पठार ही है तथापि नीचा है। इसमें केवल एक भाग ऊँचा है और दक्षिण-पूर्व से उत्तर की दिशा में फैला है। इसको तिबस्ती का पठार कहते हैं। दूसरा अंग वह है जो गिनी की खाड़ी के उत्तरी तट पर फैला है। इसी की ऊँचाई के कारण नाइगर नदी को बड़ा भारी चक्कर लगाना पड़ता है। उत्तर-पश्चिम के कोने में एटलस पहाड़ है जो स्पेन के सामने पड़ता है। भारत के पश्चिमी घाट से इस पहाड़ की ऊँचाई तिगुनी है। यह भी बर्फ़ से ढका रहता है। एट-लस पहाड़ की दो श्रेणियाँ हैं और उनके बीच में पठार है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप के उच्च प्रदेश

यह महाद्वीप भी अफ्रीका की भाँति एक पठारखण्ड है। इसके पश्चिमी और पूर्वीय भाग उभरे हुए हैं। पूर्वीय भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है और उत्तर से दक्षिण की ओर एक कोने से दूसरे कोने तक पहाड़ के रूप में फैला हुआ है। भिन्न-भिन्न स्थानों में इस पहाड़ के भिन्न-भिन्न नाम हैं। पठार का ढाल अधिकांश भागों में स्थल की ओर ही है। पूर्वीय पहाड़ों में पश्चिम की ओर उत्तर से दक्षिण तक एक मैदान है जिसके दक्षिणी भाग में नदियाँ बहती हैं।

न्यूज़ीलैंड के दोनों द्वीप पहाड़ी हैं। पश्चिमी भाग अधिकांश पहाड़ी ही है, परन्तु पूर्वी भाग नीचा मैदान है। पर्वत-श्रेणी दक्षिण-पश्चिम के छोर से उत्तर-पूर्व के छोर तक टापुओं की मध्यवर्ती रेखा के समान फैली है। दक्षिणी द्वीप में ये पहाड़ ऊँचे हैं और पश्चिमी तट को छूते हैं। इनको दक्षिणी आल्पस के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि योरप के आल्पस पर्वत की भाँति इस पहाड़ के उच्च शिखर भी हिमाच्छादित रहते हैं। घाटियों में हिमानी बहती हैं। उत्तरी टापू में तीन-चार ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत हैं। इनकी ऊँचाई हमारे पश्चिमी घाट से अधिक है। इनके आस-पास का प्रदेश लावा और राख से आच्छादित है। यहाँ की पहाड़ियों की दरारों से गरम जल के फ़ौव्वारे निकलते रहते हैं।

उत्तरी अमेरिका के पर्वत और पठार

उत्तरी अमरीका का पश्चिमी भाग ऊँचा और पहाड़ी है। पश्चिमी भाग के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर तक पर्वत-श्रेणियाँ फैली हैं। इन श्रेणियों का आरम्भ एशिया

के पामीर-पठार से हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि पर्वत श्रेणियों की जो शाखा एशिया के उत्तरी-पूर्वी छोर की ओर आई है वही उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में दौड़ती चली गई प्रतीत होती है। बेयरिंग का जलडमरूमध्य इस पर्वत-श्रेणी में एक विशाल दर्रे की भाँति है, जिसमें सागर का जल भर गया है। इस महाद्वीप के उत्तर में स्थित ग्रीनलैंड का विशाल टापू एकदम पहाड़ी है, जिस पर सदैव बर्फ़ जमी रहती है।

पश्चिमी पर्वत-श्रेणियों की बनावट उत्तर और दक्षिण के छोरों पर पतली और बीच में अधिक फैली हुई है। सारा-का-सारा पश्चिमी भाग इन्हीं पर्वत-श्रेणियों में भरा हुआ है। पश्चिम में इनकी पहुँच एकदम महासागर के तट तक हो गई है और बहुत कम चौड़ी भूमि नीची या मैदान कहाने योग्य बची है।

इस पश्चिमी पठार का सबसे अधिक उभरा हुआ भाग राकी पर्वत कहलाता है। यह यहाँ की सबसे ऊँची पर्वत-श्रेणी है और इस लम्बे पठार की रीढ़ के समान ठीक उसके मध्य में उत्तर से दक्षिण तक फैली है। राकी पर्वत के पश्चिम में और कई पर्वत-श्रेणियाँ हैं। उत्तर में इनका नाम कास्केड है और दक्षिण में इनको सिरानिवादा कहते हैं। दोनों का संयुक्त नाम पैसिफ़िक पर्वत-श्रेणी है, क्योंकि यह एकदम पैसिफ़िक महासागर के तट को छूती है और कहीं-कहीं सागर के भीतर तक चली गई है। उत्तर की ओर अलास्का में राकी पर्वत-श्रेणियाँ और पैसिफ़िक पर्वत-श्रेणियाँ दोनों मिल गई हैं। यहीं पर इनकी ऊँचाई भी अधिक हो जाती है। उत्तरी अमेरिका के सर्वोच्च पर्वत शिखर माउंट लोगान और मैकक्लिन्ले इसी भाग में हैं। इन दोनों पर्वत-श्रेणियों के बीच में ऊँचे-ऊँचे पठार हैं, जिनमें कहीं-कहीं पर लावा भी फैला हुआ है, क्योंकि इन पहाड़ों में थोड़े दिनों पहले तक बड़े-बड़े ज्वालामुखी अग्निवर्षा करते रहते थे। आजकल ये शान्त हैं। कहीं-कहीं पर इनके पठारों में गहरे खड्ड भी बन गए हैं जिनमें बड़ी-बड़ी जलधाराएँ बह निकली हैं। कोलम्बिया, फ्रेज़र और कोलरैडो नामक नदियों के खड्ड इनमें से मुख्य हैं। इन पठारों में कई स्थान, विशेषकर दक्षिण की ओर, ऐसे हैं जहाँ से पानी का निकास बाहर को नहीं है। ये स्थान प्रायः सूखे अर्द्ध-मरुप्रान्त ही हैं।

पश्चिमी पठार का दक्षिणी भाग 'मेक्सिको का उच्च पठार' कहलाता है। इस पठार के दोनों ओर पश्चिमी और पूर्वी सिरामादरी पहाड़ उसी प्रकार फैले हैं, जैसे हमारे दक्षिण के पठार के दोनों ओर पूर्वी और पश्चिमी घाट हैं। एकदम दक्षिणी छोर भी उत्तरी भाग की भाँति ऊँचा हो गया है। 'मेक्सिको के पठार' के अन्त में ओरिज़ाबा और पोपोकेटीपेल नामक ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत हैं।

उत्तरी अमेरिका की बनावट में उसके उत्तरस्थित

(दाहिनी ओर)
संसार के प्रमुख उच्च शिखरों का एक तुलनात्मक मानचित्र

पुरानी चट्टानों का प्लेटफार्म भी महत्त्व का है। इस प्लेटफ़ार्म को 'कनाडा की ढाल' (Canadian Shield) कहते हैं। यही अमेरिका का सबसे पुराना भाग है और इस महाद्वीप का शेष भाग इसी 'ढाल' के सहारे पर बना है। पूर्व और दक्षिण की ओर तो इसका अधिकांश नई मिट्टी से ढक गया है, किन्तु उत्तर-पूर्व की ओर, जहाँ इसकी ऊँचाई कुछ अधिक है, यह पुरानी ही चट्टानों का बना है। यह भाग 'लब्राडर का पठार' कहलाता है। सेन्ट लारेन्स नदी से दक्षिण की ओर नीची पहाड़ियों का आरम्भ हो जाता है। ये पहाड़ियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती हुई अपालेशियन पहाड़ कहलाने लगती हैं। इस पूर्वीय पहाड़ी भाग का अन्त दक्षिण-पश्चिम में स्थित ओज़ार्क पठार में होता है।

मध्य अमेरिका का प्रदेश लगभग सब पहाड़ी है। ज्वालामुखी पर्वतों की इसमें प्रधानता है। इस प्रदेश के सबसे ऊँचे पहाड़ स्थलडमरूमध्य के चौड़े भाग में हैं। पश्चिम में पैसिफ़िक महासागर के तट पर ऊँचे ज्वालामुखी पर्वतों की श्रेणियाँ हैं। इनकी राख से घाटियाँ भरी पड़ी हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह उन पहाड़ों की चोटियों का बना है जो जल में घुस गए प्रतीत होते हैं। यहाँ भी ज्वालामुखी पर्वत पाये जाते हैं, जिनमें कुछ सजीव हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पहाड़ी भाग

दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी भाग एण्डीज़ पर्वतमाला से भरा है। ये पहाड़ पश्चिमी भाग के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए हैं और राकी पर्वतों की भाँति नवीन और पुटीकृत हैं। इनमें भी ज्वालामुखी पर्वतों की अधिकता है। दक्षिण की अपेक्षा ये उत्तर में अधिक चौड़े हैं। उत्तरी भाग में बड़े-बड़े सूखे पठार भी हैं।

एण्डीज़ पर्वतमाला का मध्य भाग सबसे अधिक चौड़ा और सबसे ऊँची चोटियोंवाला है। इस भाग की ऊँचाई हिमालय पर्वत के सर्वोच्च शिखरों को छोड़कर अन्य ऊँचे शिखरों से की जा सकती है। भूमध्यरेखा के समीप एण्डीज़ में दो बड़े ज्वालामुखी पर्वत हैं, जिनके नाम कोटोपेक्सी और चिम्बोराज़ो हैं। कोटोपेक्सी अभी तक प्रज्वलित है, परन्तु चिम्बोराज़ो सुषुप्त हो गया है और इसके मुख पर अधिक ऊँचाई के कारण बर्फ़ जम गई है। दक्षिण में एकानकागुआ नामक सुषुप्त ज्वालामुखी है। यही नई दुनिया की सर्वोच्च चोटी है। और अधिक दक्षिण में पर्वतों की ऊँचाई कम हो गई है और छोटी-छोटी पहाड़ियों के खण्ड सागर में टापू की भाँति चमकते हैं। एण्डीज़ पर सदैव बर्फ़ जमी रहती है और भूमध्यरेखा के स्थान पर भी हिमानी और बर्फ़ की कमी नहीं है। बीच-बीच में ऊँचे पठार-प्रदेश भी हैं।

दक्षिणी अमेरिका का पूर्वीय भाग पश्चिमी भाग की भाँति सब-का-सब तो पहाड़ी नहीं है, परन्तु उत्तर का प्रदेश पहाड़ों से ढका है। यह प्रदेश 'ब्रेज़ील का पठार' कहलाता है। यह पठार बहुत ही पुरानी चट्टानों का बना है। ब्रेज़ील के पहाड़ बहुत ऊँचे तो नहीं हैं किन्तु समुद्र की ओर लगभग ये दीवाल की भाँति सीधे खड़े हैं, जिससे उस ओर बहुत ऊँचे दिखाई पड़ते हैं। पूर्वीय भाग के पहाड़ों को अमेज़न की खाड़ी दो भागों में विभक्त करती है। उत्तरीय भाग गाईना का उच्च प्रदेश है और दक्षिण का भाग ब्रेज़ील का उच्च प्रदेश। ये पर्वतीय देश वास्तव में पठार प्रदेश हैं और घने वनों से ढके हैं।
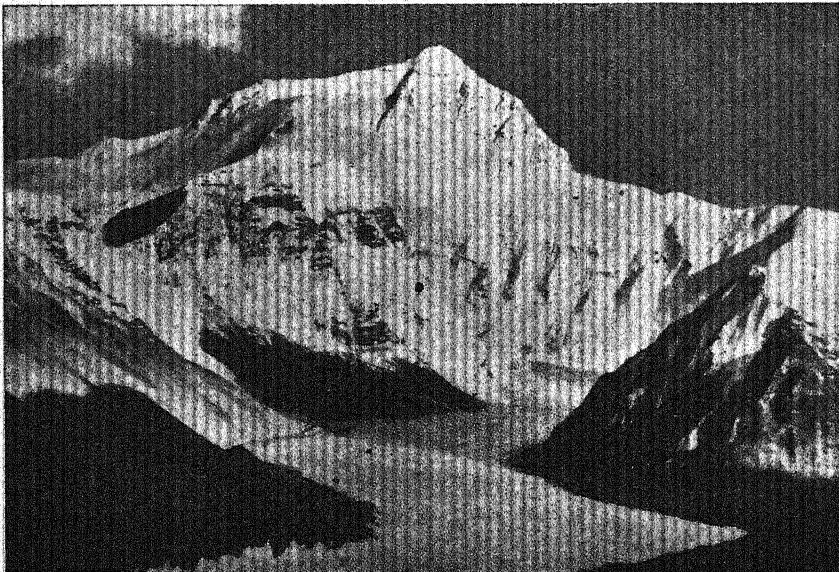
दुनिया का सर्वोच्च शिखर—हिमालय की एवरेस्ट चोटी
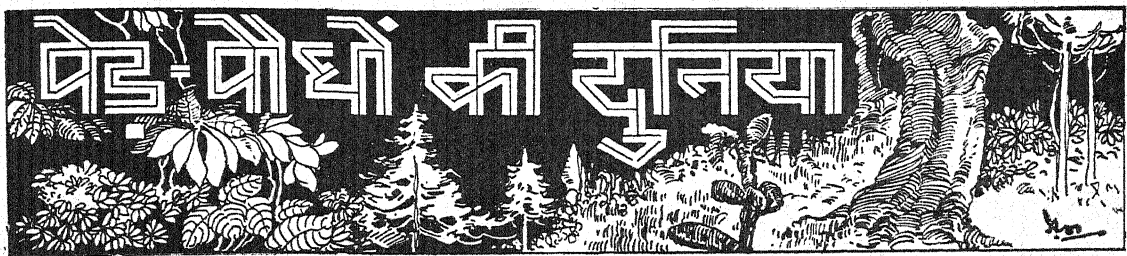
अन्नपूर्णा-भंडार पत्ती की कहानी—३

वाष्प-त्याग की रोक और जलसंचय के साधन

पिछले परिच्छेद में आप देख चुके हैं कि पेड़-पौधों से प्रतिदिन न जाने कितना जल निकलकर वायु में जाया करता है। इन्हें यह जल भूमि से ही मिलता है; परन्तु सभी जगह जल की समान सुविधा नहीं रहती। मिट्टी के गुण अथवा ताप आदि के अनुसार स्थान-स्थान पर इस अवस्था में बड़ा अन्तर रहता है और प्रायः समान जल-पात होने पर भी पौधों को इस जल से समान लाभ नहीं हो पाता। यदि कहीं इनमें सदैव ही पानी का अंधाधुंध ख़र्च बना रहे तो अवश्य ही संकट पैदा हो जाय क्योंकि एक तो वैसे ही जल के लिए हर समय व स्थान पर समान सुविधा नहीं रहती, दूसरे जितना जल वर्षा से एक अवधि में भूमि को मिलता है प्रायः इससे कहीं अधिक वहाँ के पौधों से साधारण अवस्था में वाष्प-त्याग के कारण वायु में चला जाता है। इस तरह इंगलैण्ड के लिए हिसाब लगाकर देखा गया है कि जुलाई के महीने में—जो वहाँ का सबसे अधिक वर्षा का समय है और जबकि वहाँ ३ इंच या प्रति एकड़ ८४०० मन पानी गिर जाता है—केवल चौबीस घंटे में ही चरी की एक एकड़ घास से २९६८ मन जल इस क्रिया के प्रभाव से निकलकर वायु में चला जाता है और पूरे महीने में तो इस हिसाब से ८४००० मन से अधिक जल (अर्थात् जितना इस अवधि में भूमि को मिलता है उसका दस गुना) इस भाँति निकल जाता है। अगर ऐसा ही आय-व्यय का हिसाब रहता तो काम कैसे चलता!

चि० १—एक जाति का बबूल। नालपत्र पर ध्यान दीजिए। (चि० मि० श० अहमद)

इसलिए पौधों में वाष्प-त्याग की रोक और जल-संचय के साधन होना भी परम आवश्यक है। साथ ही साथ भूमि में भी वर्षा से आया जल बड़ी युक्ति से संचित रहता है, जिससे वह, उन दिनों भी जब वर्षा नहीं होती, पौधों को किसी-न-किसी अंश में मिलता रहता है। फिर भी पौधों के सम्मुख एक प्रकार से जल-संचय की विकट समस्या बनी ही रहती है। यथार्थ में आजकल पृथ्वी पर वही पेड़-पौधे सरसब्ज़ हैं, जिनमें यह जटिल प्रश्न किसी-न-किसी युक्ति से हल हो गया है। जल की आमद के ही अनुसार इनमें काम-काज का फैलाव रहता है और जलाभाव के दिन किसी-न-किसी विशेष ढंग से ही पार होते हैं।

वाष्प-त्याग से बाहर जानेवाले जल की रोक

सबसे उत्तम जलसंचय का साधन तो यह है कि जो जल पौधों में जड़ों से आए उसकी छीज कम हो। आप देख चुके हैं कि पत्तियाँ ही वाष्प-त्याग का मार्ग हैं और जल का बाहर जाना बहुत-कुछ इन्हीं के अधीन है। इनकी संख्या, आकार, रचना तथा इन पर रंध्रों की संख्या व आकृति का वाष्प-त्याग पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार से वाष्प-त्याग में अन्तर पड़ सकता है। इस परिच्छेद में हम इन्हीं बातों पर विचार करेंगे।

नागफनी वर्ग के पौधों में प्रायः पत्तियाँ नहीं होतीं। यथार्थ में इस समूह के पौधों में एक पेरेस्किया (*Pereskia*) को छोड़ अन्य किसी में भी साधारण पत्तियाँ नहीं होतीं।

ऐसे पौधों में वाष्प-त्याग की अच्छी रोक रहती है। इन पौधों के तनों में पर्णहरित होता है इसलिए स्टार्च-संश्लेषण में बाधा नहीं पड़ती। कितने ही थूहड़ के समूह के पेड़ों में भी पत्तियाँ नहीं होतीं। करीर और झाऊ में भी पत्तियाँ कम और छोटी होती हैं। इन सारे ही पौधों में वाष्प-त्याग से जल कम बाहर जाता है। इन पौधों में और भी कितनी ही विशेषताएँ हैं, जिनसे वाष्प-त्याग की रोक रहती है।

पत्तियों की संख्या और आकार के अतिरिक्त इनमें और भी अनेक बातें वाष्प-त्याग को कम करनेवाली हैं।

किसी-किसी पेड़ की पत्तियाँ अति शीत के प्रभाव से मुड़ जाती हैं, जिससे उनकी सतह कम पड़ जाती है और इसलिए वाष्प-त्याग कम पड़ जाता है। यह अवस्था रोडोडेंड्रन (*Rhododendron*) में मिलती है।

चि० २—चीड़ की पत्ती के आड़े कत्तल का चित्र। इस समूह के वृक्षों में रंध्र अंदर को घुसे रहते हैं।

पत्तियों के एक दूसरे से मिल जाने से भी वाष्प-त्याग के लिए सतह कम पड़ जाती है, जिससे यह क्रिया धीमी पड़ जाती है। ऐसी अवस्था प्रायः रात के समय अधिक पेड़-पौधों में देखी जाती है। चकवँड़ (अं० १ चि० चकवँड़), सिरिस, लाजवन्ती और कितने ही दूसरे पौधों की पत्तियाँ सूर्य अस्त होने पर ऐसी अवस्था में आ जाती हैं। किसी-किसी पौधे में पत्रदल प्रधान नलिका के दोनों ओर से पलटकर मिल जाता है। ऐसी हालत में वाष्प-त्याग की सतह केवल आधी रह जाती है। इसके अतिरिक्त जब पत्तियाँ एक दूसरी से जुट जाती हैं तो जो जल वाष्प-रूप में पत्ती से बाहर आता है, उसका बहुत-सा अंश इनके बीच में ही फँसा रह जाता है, जिससे वाष्प-त्याग और भी धीमा पड़ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जब कभी पत्तियाँ इस प्रकार एक दूसरी से जा मिलती हैं तो उनसे वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है; परन्तु धूप की अपेक्षा रात के प्रभाव से अधिक पेड़ों की पत्तियाँ इस भाँति बन्द हो जाया करती हैं, जिससे पत्तियों की इस हरकत का कोई विशेष अर्थ नहीं समझ में आता। किसी-किसी का मत है कि ऐसी दशा में पत्तियों पर ओस कम जम पाता है, जिससे वाष्प-त्याग में बाधा नहीं पड़ती, परन्तु यह बात भली भाँति समझ में नहीं आती।

चि० ३—कनेर की पत्ती के आड़े कत्तल का चित्र। इस पौधे में रंध्र गहराई पर गड्ढे में होते हैं और गड्ढों के भीतर और द्वार पर अनेक रोम होते हैं।

किसी-किसी पेड़ की पत्तियों में साधारण पत्रदल नहीं होते, परन्तु पत्रनाल चौड़ा और पत्ती-जैसा हरा होता है (चि० १)। यह अवस्था प्रायः बबूल की जाति के वृक्षों में मिलती है।

प्रारम्भ में इन वृक्षों में भी साधारण बबूल की जाति के पेड़ों की भाँति संयोजित पिच्छाकार पत्तियाँ होती हैं; परन्तु ज्यों-ज्यों पौधे बढ़ते हैं उनमें साधारण पत्तियों का निकलना बंद हो जाता है। साथ-ही-साथ पत्तियों के डंटल हरे और चौड़े होने लगते हैं। इस भाँति के हरे पत्ती सरीखे डंटल को 'नाल-पत्र' (Phyllode) कहते हैं। इन रचनाओं द्वारा पत्ती के सभी काम-काज होते रहते हैं, परन्तु वाष्प-त्याग साधारण पत्तियों की अपेक्षा कम होता है।

तरह-तरह के सुगन्धित द्रव्य, गोंद, लोबान, मोम, तारपीन आदि भी वाष्प-त्याग को धीमा कर देते हैं। ये पदार्थ जिन वृक्षों की पत्तियों में होते हैं उनसे वाष्प-त्याग कम होता है। जिन वृक्षों में दूधिया रस होता है उनसे भी वाष्प-त्याग प्रायः कम होता है। मदार, अंजीर, थूहड़, पोस्ता, पपीता, कटहल, गूलर जैसे अनेक वृक्षों में ऐसा दूधिया रस रहता है। दूधवाले पौधों में एक और भाँति से भी जल-त्याग की कमी रहती है। इनके अंग कटते ही दूध बह चलता है जो धूप और हवा के लगते ही सूख जाता है और जमकर घाव को बन्द कर देता है, जिससे वहाँ से जल की छीज कम होती है।

जिन पौधों की पत्तियों पर मोम-सरीखा पदार्थ जमा रहता है उनसे भी वाष्प-त्याग धीमा होता है। करमकल्लों के ऊपर की सफ़ेद-मायल और लौकी के ऊपर की चमकदार वस्तु इसी भाँति की हैं।

पत्तियों के ऊपर वर्त्तमान रोम और स्केल भी वाष्प-त्याग को धीमा कर देते हैं; परन्तु इनका प्रभाव उसी दशा में अधिक होता है जब वे ख़ूब घने हों। इधर-उधर बिखरे रहने पर विशेष असर नहीं पड़ता। जिन पत्तियों पर रोमों के कारण नमदे या कम्बल जैसी तह जमी रहती है उनमें वाष्प त्याग की बड़ी रोक रहती है। एक विशेष जाति के पेड़ की पत्तियों से ऐसे रोमों को उतार देने पर देखा गया है कि वाष्प-त्याग २५ से ५० फ़ीसदी तक अधिक हो जाता है। किसी-किसी पत्ती पर रोमों के कारण वाष्प-त्याग द्वारा रंध्रों से निकला जल इनके बीच में ही फँसा रह जाता है, जिससे यह क्रिया और भी धीमी पड़ जाती है।

रोमों की भाँति स्केल भी वाष्प-त्याग को रोकते हैं। प्रायः ये दोनों ही उन्हीं अंगों पर विशेषता से होते हैं, जिनकी अधिक वाष्प-त्याग से रक्षा करना आवश्यक होता है। अधिकतर ये रचनाएँ नवीन कोमल पत्तियों और रंध्रों पर ही होती हैं।

चि० ४—पतझड़ी वृक्षों की पत्तियाँ गिर जाने से वे बिल्कुल पत्रहीन हो जाते हैं। यह इन वृक्षों में जल की कठिनाई की समस्या को हल करने का साधन है।

रोम और स्केल पत्ती को ताप, तुषार तथा अधिक प्रकाश से भी बचाते हैं; परन्तु यह बात विशेषकर उन्हीं पत्तियों के लिए कही जा सकती है जिनमें ये रचनायें घनी और ऊपरी सतह पर होती है। प्रयोगों से पता चलता है कि ऐसी पत्तियों पर साधारण पत्ती की अपेक्षा ताप अथवा प्रकाश का प्रभाव देर में पड़ता है।

सूखे के प्रभाव से किसी-किसी घास की पत्तियाँ मुड़ जाया करती हैं। इस प्रकार भी वाष्प-त्याग की सतह कम पड़ जाती है। किसी-किसी सिलैजीनेला (*Selaginella*) और कितने ही लिवरवर्ट्‌स और मासेज़ में भी ऐसा होता है।

पालीट्राइकम मॉस में जल कम मिलने पर पत्तियाँ ऊपर को झुक शाख से जा लगती हैं, परन्तु जब जल की कमी के दिन निकल जाते हैं तो वे फिर फैलकर खुल जाती हैं। जिस अवस्था में पत्तियाँ शाखों से चिपटी रहती

हैं, उस दशा में उनसे वाष्प-त्याग कम होता है।

पत्तियों की सजावट के ढंग का भी वाष्प-त्याग पर प्रभाव पड़ता है। यदि ढंग ऐसा हो कि पूरी पत्ती पर सूरज की किरणें सीधी पड़ें तो वाष्प-त्याग अधिक होगा: परन्तु यदि वे इस ढंग से लटकी रहें कि ऐसा न हो पाए तो वाष्प-त्याग कम होगा। बहुधा पेड़ों की पत्तियाँ एक दूसरी को कुछ-न-कुछ ढके रहती हैं। इस दशा में भी वाष्प-त्याग कुछ धीमा रहता है।

रंध्रों की संख्या का भी वाष्प-त्याग पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो एक ही जाति के पौधों में स्थान-भेद से रंध्रों की संख्या में अन्तर पड़ जाता है। जब ऐसे पौधे उन स्थानों पर उगते हैं जहाँ जल अधिक मिलता रहता है तो इनकी पत्तियों पर अधिक रंध्र होते हैं, परन्तु जब वे ऐसे स्थानों पर उगते हैं जहाँ जल की कठिनाई रहती है तो रंध्र कम होते हैं।

रेगिस्तानी भूमि में उगने-वाले कुछ पौधों में रंध्र अन्दर को घुसे रहते हैं। ऐसी अवस्था कुछ चीड़ की जाति के पौधों में भी मिलती है (चि० २)। ऐसे रंध्रों से निकला जल वायु में बहुत धीरे-धीरे निस्सरित होता है, जिससे वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है। कभी-कभी ऐसे रंध्रों के द्वार पर रोम भी होते हैं (चि० ३)। इनसे और भी वाष्प-त्याग की रोक रहती है। कभी-कभी पत्ती की अधित्वक् की बाहरी भित्तिकाओं पर चर्मोज की तह विशेष मोटी होती है (चि० ३)। इससे भी वाष्प-त्याग धीमा रहता है।

चि० ४

वाष्प-त्याग को रोकनेवाली विशेषताएँ प्रायः रेगिस्तानी पेड़-पौधों में अधिक होती हैं, क्योंकि ऐसी दशा में जलाभाव की सम्भावना अधिक रहती है।

पतझड़

कितने ही वृक्ष और झाड़ ऐसे हैं, जिनमें किसी-न-किसी समय सारी पत्तियाँ झड़ जाया करती हैं। ऐसे पेड़ों को पतझड़ी पेड़ कहते हैं।

जैसा ऊपर कह चुके हैं पत्तियाँ पौधों से जलत्याग का मार्ग हैं। इन्हीं की राह पौधों से सैकड़ों मन पानी निकलकर बराबर वायु में आता रहता है। यदि हम किसी साधारण वृक्ष की भी पत्तियों को एक दूसरी से मिलाकर बिछा सकते तो ये बीघों जगह घेर लेतीं। जब तक ये पेड़ में लगी रहती हैं इनसे होकर बराबर हवा में जल आता रहता है।

अब अगर मान लीजिए कि किसी स्थान पर ठंढक (जैसा कि प्रायः शीतप्रधान देशों में होता है) या अन्य किसी कारण से पेड़ों में शोषण-क्रिया धीमी पड़ जाय, परन्तु वाष्प-त्याग से बाहर जानेवाले जल की यथेष्ट रोक न हो तो पेड़ों के लिए बड़ी कठिन समस्या हो जाय। पतझड़ ऐसी कठिनाई की अवधि पार करने का एक उत्तम साधन समझा जाता है।

पतझड़ क्यों होता है, इसमें भले ही मतभेद हो; परन्तु पत्तियाँ झड़ जाने से वाष्प-त्याग बहुत कम पड़ जाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पत्तियों का जीवनकाल थोड़े या बहुत दिन का होता है। अनेक रेगिस्तानी और पतझड़ी वृक्षों में पत्तियाँ निकलने के कुछ हफ़्ते अथवा महीने बाद गिर जाती हैं; परन्तु सदापत्री वृक्षों में वे साल दो साल या इससे भी अधिक दिनों तक लगी रहती हैं। इन वृक्षों की एक विशेषता यह भी है कि इनकी सारी पत्तियाँ एक साथ नहीं गिरतीं, जिससे हमारा विशेष ध्यान इनकी ओर नहीं जाता; परन्तु पतझड़ी वृक्षों की सारी पत्तियाँ एक साथ गिर जाती हैं और वे बिल्कुल पत्रहीन हो जाते हैं, जिससे इनकी यह दशा हमारी निगाहों में खटकने लगती है (चि० ४)।

वैसे तो पतझड़ कई बातों पर निर्भर है, परन्तु शीत-प्रधान देशों में, जहाँ ठंढक के कारण सर्दी के दिनों में पेड़ों में जल-शोषण की अड़चन रहती है, यह जल-कठिनाई की समस्या को हल करने का सबसे उत्तम साधन समझा जाता है। ऐसे समय में बहुत-से पेड़ और झाड़ पत्तियाँ उतार देते हैं। जब पत्तियाँ ही नहीं होंगी तो वाष्प-त्याग कहाँ से होगा! पतझड़ के और भी कई कारण हैं।

जैसा हम पूर्व ही कह चुके हैं, पत्तियाँ पेड़ों के बढ़
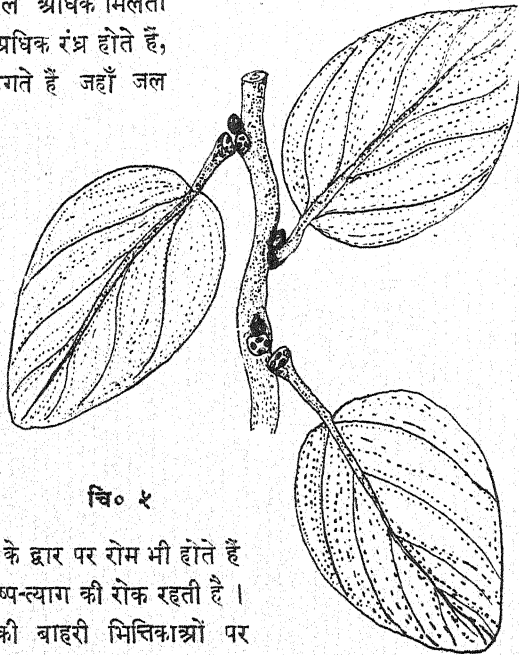
कारख़ाने हैं जहाँ अमूल्य पदार्थ बना करते हैं। इनके कोश ही वे इंजिन हैं जिन पर इन वस्तुओं का बनना निर्भर है। एक समय तक चालू रहने के पश्चात् लोहे की मशीनों के भी पुर्ज़े घिस-घिसाकर बेकाम हो जाते हैं और उनकी सफ़ाई, मरम्मत तथा बदलने तक की आवश्यकता रहती है। पत्तियों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। ज्यों-ज्यों ये पुरानी हो चलती हैं, इनमें काम-काज के लिए पहले-जैसी शक्ति नहीं रह जाती। उधर अनेक इन्द्रिय-व्यापारक क्रियाओं के कारण अनेक मलोत्सर्जित वस्तुएँ जमा हो जाती हैं तथा रंध्रों पर गर्द-गुबार जम जाता है जिससे काम-काज और भी धीमे पड़ने लगते हैं। इन कारणों से भी कुछ समय पश्चात् पत्तियों को अलग कर देने की आवश्यकता होती है। फिर साल के बारहों महीने तो सभी जगह काम-काज के लिए समान सुविधा रहती नहीं है। प्रायः वसंत के दिन और गर्मी का प्रारम्भ-काल ही इन्द्रिय-व्यापारिक क्रियाओं के लिए सर्वोत्तम समय है। इन दिनों प्रकाश और ताप अनुकूल रहता है। इसलिए इन दिनों नवीन पत्तियों का होना पेड़ों के लिए हितकर समझना चाहिए। यदि विचार से देखा जाय तो अधिकतर पतझड़ी पेड़ों में प्रायः ऐसी ही अवस्था मिलेगी। इनमें पत्तियाँ तभी गिरने लगती है जब काम-काज में अड़चन उपस्थित होने लगती हैं और नवीन पत्तियाँ तभी निकलती मिलेंगी जब इसके लिए अधिक सुविधा रहती है।

चि० ६—वृक्ष-पर्णाङ्गों का एक समूह
ये पेड़ सदापत्री होते हैं।

जिस समय पत्ती गिरने को होती है उसके आधार के नीचे, जहाँ वह टहनी में लगी रहती है, एक विशेष प्रकार का तन्तु बनने लगता है। इस तन्तु को ऐब्सिस (*Abscis*) पर्त कहते हैं। काग की भाँति इस तन्तु की कोश-भित्तिकाओं पर भी कागजन जमा रहता है, जिससे पत्ती में जल पहुँचना रुक जाता है और वह पीली पड़कर मुर्झाने लगती है। इधर इस तन्तु के कोश नाज़ुक होते हैं और धीरे-धीरे उनकी भित्तिकायें गलने लगती हैं जिससे पत्ती का बोझ सँभलना कठिन हो जाता है और स्वयं अपने भार से हवा का तनिक झोंका लगते ही वह अलग जा गिरती है (चि० ५)। इस प्रकार सारी पत्तियाँ गिर जाती हैं और वृक्ष सूखे ठूँठ-जैसे दिखाई देते हैं। अब पत्तियाँ न रहने से वाष्प-त्याग का भय जाता रहता है; परन्तु शायद आप विस्मय में होंगे कि पत्तियाँ अलग हो जाने के कारण जो करोड़ों घाव पेड़ों में हो जाते

हैं, उनसे होकर बहुत सारा जल पेड़ों से निकल जाता होगा। किंतु ऐसी अवस्था नहीं आने पाती ; क्योंकि जैसा ऊपर कह चुके हैं, ऐब्रूसिस पर्त के कोशों में कागजन रहता है, जिसके प्रभाव से उसके नीचे के कोशों से जल-त्याग का भय नहीं रहता और पत्ती गिर जाने पर भी उस स्थान से वाष्पी-भवन द्वारा जल नहीं निकल पाता।

कितने ही पेड़ों में अलग-अलग पत्तियाँ न गिरकर छोटी-छोटी टहनियाँ गिर जाया करती हैं। बात एक ही है और पेड़ों पर दोनों का ही एक सरीखा प्रभाव पड़ता है।

पतझड़ से इस प्रकृतिवाले पेड़ों में वाष्प-त्याग बहुत धीमा पड़ जाता है और एक तरह से ऐसी वनस्पतियों के लिए हम कह सकते हैं कि जल की कठिनाई के दिनों में इन्होंने मानों अपने अंगों में स्थित जल को वायु में जाने से रोकने के लिए काग चढ़ा लिया है। इस स्वभाव के ही कारण किसी-किसी वृक्ष में इतना अधिक काग बन जाता है कि इसका अच्छा ख़ासा व्यापार खड़ा हो गया है। इस काग से ही बोतल की ढट्टियाँ, जूतों के तले तथा और कितनी ही दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ बनती हैं।

सदापत्री वृक्षों में, जैसा पहले कह चुके हैं, सारी पत्तियाँ इकट्ठी नहीं गिरतीं। इन वृक्षों के कई भेद हैं। इनमें से कदली और वृक्ष-पर्णाङ्ग (चि० ६) की भाँति कोई-कोई कोमल पत्तीवाले होते हैं, किसी-किसी में पत्तियाँ बड़ी परन्तु चिमड़ी होती हैं, किसी-किसी में चीड़ और देवदार की तरह पत्तियाँ सख़्त और कुसी-जैसी होती हैं और किसी-किसी में, नागफनी और करीर की भाँति, पत्तियाँ तो नहीं होतीं परन्तु इनके अंग हरे बने रहते हैं।

वाष्प-त्याग की रोक के लिए पत्रहीन दशा सर्वश्रेष्ठ साधन है, क्योंकि इस अवस्था में छाल तथा त्वचापत्र द्वारा प्रायः वृक्षों के समस्त अंग रक्षित रहते हैं।

सर्दी के प्रारम्भ में पत्तियाँ गिर जाने से विशेषकर कोमल पत्तीवाले वृक्षों को अधिक लाभ पहुँचता है, क्योंकि इससे वाष्प-त्याग बहुत धीमा पड़ जाता है।

सर्दी के दिनों में सदापत्री पेड़ों से पतझड़ी पेड़ों की अपेक्षा वाष्प त्याग का अधिक भय रहता है, परन्तु इनमें स्टार्च-संश्लेषण की सुविधा सदैव बनी रहती है।

बड़ी और चिमड़ी पत्तीवाले सदापत्री वृक्ष केवल उन्हीं स्थानों पर अधिकता से उगते हैं, जहाँ सर्दी के दिनों में जल गिरता रहता है। जिन प्रदेशों में तमाम साल बराबर वर्षा होती रहती है और साथ-ही-साथ ताप भी क़रीब-क़रीब समान रहता है वहाँ कोमल पत्तीवाली सदापत्री वनस्पतियों के लिए विशेष सुविधा रहती है।

वाष्प-त्याग पर कलियों का प्रभाव

कितने ही वृक्षों और झाड़ों में सर्दी के दिनों में कलियाँ बन जाती हैं। इससे भी वाष्प-त्याग धीमा पड़ जाता है, और जल-कठिनाई की अड़चन नहीं रहती। कलियों में पत्तियों के बीच के पोर बहुत छोटे होते हैं, जिससे वे दूर-दूर न होकर एक दूसरी को ढके रहती हैं (चि० ७)। कलियों के बाहर वल्क-पत्र, स्केल या रोम होते हैं। प्रायः इन पर मोम या गोंद-सरीखा पदार्थ भी रहता है। ये सारी ही बातें वाष्प-त्याग को धीमा करनेवाली हैं और इसलिए कलियाँ बन जाने से वाष्प-त्याग का भय कम पड़ जाता है।

कली की अवस्था में पत्तियाँ बहुत छोटी और आपस में ऐसी लिपटी रहती हैं कि इनकी भीतरी कोमल सतह बिलकुल ढकी रहती है। इससे भी वाष्प-त्याग कम पड़ जाता है।

कलियों में नन्हीं-नन्हीं नवल पत्तियों के मध्य में शाख का कोमल अंकुर छिपा रहता है। समय आने पर पत्तियों के बीच के पोर बढ़ने लगते हैं, जिससे वे अलग-अलग हो फैलने लगती हैं। धीरे-धीरे वे छोटी से बड़ी और कोमल से पोढ़ी हो जाती हैं। कठिनाई की अवधि पार होते ही वृक्ष हरी-हरी नवल पत्तियों से लहलहा उठता है और ताप और प्रकाश यथेष्ट होने के कारण पेड़ों में काम-काज बड़ी धूम से होने लगते हैं।

भूम्यन्तरवास का जल-कठिनाई से सम्बन्ध

कुछ ऐसी प्रकृति के पेड़-पौधे हैं, जो जल-कठिनाई की नौबत आने पर उन दिनों अपने काम-काज धीमे कर पृथ्वी के अन्दर छिपे पड़े रहते हैं। ऐसे पौधों के लिए यह कहना अनुचित न होगा कि जल की अड़चन देखकर ये शयन करने लगते हैं। इन्हें हम भूम्यन्तरवासी पौधे कह सकते हैं।

कितने ही पौधों में यह क्रिया सम्मूलनी शाखा, मांसल जड़ों अथवा- अन्य किसी अंग के सहारे होती है। ऐसे अंगों में जल और खाद्य रस संचित रहते हैं। इन्हीं अंगों के सहारे ऐसी प्रकृतिवाले पौधे जलाभाव की अवधि पृथ्वी के नीचे पड़े-पड़े काट देते हैं। आलू, शकरकन्द, कैना, हल्दी आदि ऐसे पौधों के उदाहरण हैं। प्रतिकूल समय आने पर इनकी पत्तियाँ तथा भूमि के ऊपरवाले अन्य अंग सूखने लगते हैं; परन्तु भूमि के नीचे के भाग मांसल और मोटे हो जाते हैं। इन्हीं अंगों में संचित जल और खाद्य पदार्थ रहते हैं और इन्हीं पर कलियाँ होती हैं, जिनसे समय लौटने पर नवीन पौधे पैदा होते हैं।

द्विवर्षीय जीवन

कितने ही घास-फूस तथा बगीचे के पौधे एक मौसम में उगते हैं और दूसरे में इनमें बीज बनते हैं। ऐसी प्रकृति के पौधों में पहली मौसम में प्रायः बड़ी-बड़ी पत्तियों का गुच्छा या अग्रस्थ कलियाँ बनती हैं या मांसल तने अथवा जड़ें उत्पन्न होती हैं, और दूसरी में फूल-फल और बीज आते हैं। प्रायः पत्तियों के गुच्छे और कलियाँ पृथ्वी से चिपटी रहती हैं। बहुधा इन पर स्केल्स और रोम भी होते हैं, जिससे वाष्प-त्याग धीमा रहता है। करमकल्ला इस श्रेणी के ऐसे पौधों में है जिनमें पहली मौसम में बड़ी अग्रस्थ कली बनती है। इसकी पत्तियों के आपस में लिपटे रहने के कारण वाष्प-त्याग की रोक रहती है। गाँठगोभी में मांसल तने के सहारे जल-कठिनाई के दिन पार होते हैं। ऐसे पौधों में जल-कठिनाई के दिन निकल जाने पर फिर बाढ़ शुरू होती है और फूल-फल आते हैं।

जल-संचय

अभी तक हमने विशेषकर उन्हीं बातों पर विचार किया है, जिनके प्रभाव से पौधों से बाहर जानेवाले जल की रोक रहती है। अब हम आपका ध्यान इनमें जल-संचय की ओर ले जाना चाहते हैं। इस संगृहीत जल के सहारे ही इनमें जल-कठिनाई के दिनों में काम-काज होते रहते हैं। अनेक पौधों में जल-संचय के साथ-ही-साथ जल-त्याग की भी रोक रहती है और इसलिए कुछ ऐसे पौधों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। नागफनी, चौधारा (चि० ८), थूहड़, पथरचूक (अजूबा) आदि कितने ही ऐसी प्रकृति के पौधे हैं।

न्यूयार्क बौटैनिक गार्डेंस में आइबरविलिया सोनोरी *(Ibervillea sonorae)* नामक एक कद्दूवर्ग के पौधे का ग्रंथिकन्द है, जो यहाँ सन् १६०२ ई० में लाया गया था। यहाँ पहुँचने पर यह पत्थर-जैसा सूखा-साखा कन्द एक अल्मारी में बन्द कर दिया गया; परन्तु आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि ऐसी परिस्थिति में भी इससे प्रतिवर्ष सात साल तक एक-न-एक हरी टहनी निकलती रही! इस बाढ़ के लिए भला अल्मारी के अन्दर इस कन्द को पानी कहाँ से मिला? अगर इसका कोई सहारा था तो बस वही जल था जो इसमें मरुभूमि से, जहाँ वह यहाँ आने के पूर्व उगा था, समय-समय पर संचित हो गया था। एक सूरन की गाँठ से योंही गोदाम में रक्खे-रक्खे फूल निकलते मिले हैं (चि० ६)।

सन् १६२१ की बात है, बनारस के श्री राय किशनचन्द्र-जी ने साधारण व्यवहार के लिए कुछ ज़मींक़न्द की गाँठें

चि० ७—(दाहिनी ओर) पत्रकलिका; (बाईं ओर) कलियाँ खिल गई हैं। (फ़ो०—मि० श० अहमद)

चि० ८—चौधारा (फ़ो०—श्री० वि० सा० शर्मा)

चि० ६—सूरन की एक गाँठ जिसमें यों ही पड़े-पड़े फूल निकल आए थे (फ़ो०—श्रीमान् प्रो० बीरबल साहनी, एफ़० आर० एस०, के सौजन्य से)

एक बोरी में बन्द कर एक कोठरी में रख दी थीं। समय-समय पर वे इनसे एक-आध गाँठ निकलवाकर भाजी के काम में लाते रहे। इस प्रकार कई महीने निकल गए। एक दिन जब इन्होंने फिर इस बोरे को सूरन निकालने के लिए खोला तो यह कन्द फूला हुआ मिला। बाद में इसका फूलों का गुच्छा काट लिया गया, जो आज भी लखनऊ-विश्वविद्यालय में सुरक्षित है, और गाँठ यहाँ के बौटैनिक गार्डेंस में लगा दी गई थी, जिससे कई साल तक बराबर शाखें निकलती रहीं।

नागफनी, चौधारा, घीकुवाँर जैसे कितने ही पौधों को आपने कँकरीली-पथरीली भूमि पर भी उगते देखा होगा। प्रायः इनकी जहाँ-तहाँ पड़ी डालों से भी जड़ें फूट आती हैं। कभी-कभी तो ये ऊँचे-ऊँचे खपरैलों और चहारदीवारी पर भी, जहाँ साल की अधिक अवधि बिना बाहर के जल के सहारे पार करनी पड़ती है, हरे-भरे बने रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में इनमें काम-काज साल में अधिक दिन उसी जल के सहारे चलते हैं जो वर्षा के दिनों में इनमें संचित हो जाता है।

कितने ही नागफनी और थूहड़ की जाति के पौधों की अधित्वक् चिमड़ी और मोटी होती है, जिससे जलसंचय के साथ-साथ वाष्प-त्याग भी कम होता है। ऐसे कितने ही पौधों में प्रायः पत्तियाँ छोटी अथवा बिल्कुल नहीं होतीं (अं० ६, चि० १०-११)। यह सारी ही बातें जल-कठिनाई की समस्या सरल करने के प्रयोजन से होती हैं।

बहुतेरे पेड़ों की पत्तियों में जल संचित रहता है। घीकुवाँर, पथरचूक, हाथीचिंघार अथवा कितने ही पर्णांग ऐसी सुविधावाले पौधे हैं। प्रायः ऐसे पौधों की अधित्वक् भी ऐसी होती है कि उससे जल बाहर जाना कठिन रहता है। बहुधा ऐसे पौधों में जलसंचय के लिए एक विशेष तन्तु होता है। कभी-कभी जलसंग्रह-तन्तु के कोश धौंकनी के समान होते हैं, जिससे ये आसानी से फैलते और सिकुड़ते रहते हैं (चि० १०)। जल-सुविधा के समय इस तन्तु के कोश जल से भर जाते हैं, जिससे वे तन जाते हैं और पत्ती फूली रहती है; परन्तु जब जल कम पड़ने लगता है तो भित्तिकायें सिमट जाती हैं और कोश पिचक जाते हैं। किसी-किसी जाति के पर्णांग में दो भाँति की पत्तियाँ होती हैं—साधारण पत्तियाँ, जिनमें जलसंग्रह की विशेष सुविधा
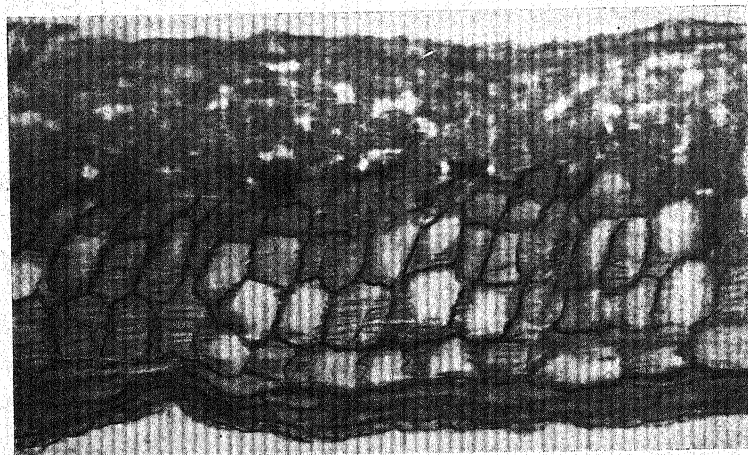
चि० १०—यह एक विशेष जाति के पर्णाङ्ग निफोबोलस की साधारण पत्ती के आड़े कत्तल का चित्र है। इसमें जलसंग्रह के लिए विशेष तंतु रहता है, जिसकी भित्तिकाएँ धौंकनी की तरह सिकुड़ती और खुलती रहती हैं।

रहती है, और रेणुपत्र (Sporophyl) (चि० ११)। किसी-किसी पौधे में पत्तियों के परिवर्त्तन से तूँबिकाकार या कूँड़े-जैसी रचनायें बन जाती हैं जिन्हें तूँबी (pitcher) कहते हैं। तूँबियों के कई भेद हैं और प्रायः इनमें जल-सरीखा रस भरा रहता है। तूँबिलता (*Nepenthes*) (अं० १ चि० तूँबिलता), सैरासीनिया (*Sarracenia*) आदि कीटाशी पौधों की तूँबियाँ ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन पौधों की तूँबियों में तो एकत्रित रस के जड़ों द्वारा शोषण का कोई विशेष साधन नहीं रहता; परन्तु डिस्किडिया रैफ़्लीज़ियाना (*Dischidia Rafflesiana*) नामक मदार के समूह के एक उपरिजात मूल पौधे की तूँबियों में संगृहीत जल का उसकी अनियमित जड़ों द्वारा बड़ी सुन्दरता से शोषण होता है। इस पौधे में साधारण पत्तियों के अतिरिक्त कुछ तूँबिकाकार पत्तियाँ भी होती हैं जिनमें जल संचित रहता है। ये पत्तियाँ मांसल होती हैं और अधित्वक् चिमड़ी होती है, जिससे वाष्प-त्याग की रोक रहती है। पौधे की
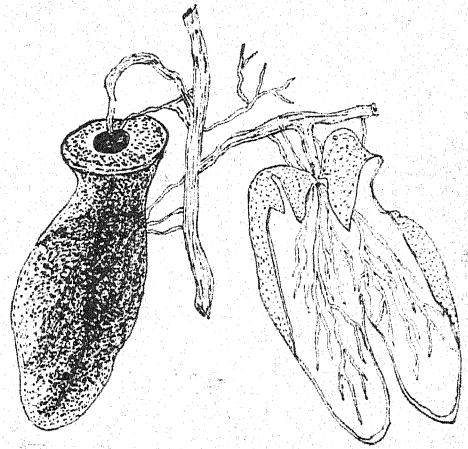
चि० १२—डिस्किडिया रैफ़्लीज़ियाना – दाहिनी ओर तूँबी खोलकर उसके अंदर अनियमित जड़ें दिखलाई गई हैं।

तूँबियों के पास की टहनी या पत्ती के डंठल से अनियमित जड़ें निकलकर तूँबी में जा फैलती हैं और वहाँ से जल-शोषण करती हैं (चि० १२)। प्रायः इस जल में सड़ी-गली चीज़ें भी पड़ी रहती हैं, जिससे किसी अंश में खाद्य रस भी मिलते रहते हैं। ये पदार्थ प्रायः चिउँटियों की बदौलत ही यहाँ पहुँचते हैं।

चि० ११ — निफोबोलस -- यह एक उपरिजात मूल पर्णाङ्ग है।

जल का महत्त्व

पौधों की जीवनी में जल का बहुत बड़ा महत्त्व है। यथार्थ में जल एक ऐसी वस्तु है कि इसके अनुसार ही नदी, तालाब, समुद्र तथा अन्य जलाशय, रेगिस्तान, चरागाह, चट्टान, पर्वत अथवा दूसरे स्थानों की वनस्पतियों की रचना होती है। जल का ही बहुत बड़ा अंश पौधों की ख़ूराक है। इसी के अधिक संयोग से पौधों के तन्तु और अंग बनते हैं। इस पर ही इनके जीवन की सारी क्रियायें निर्भर हैं। इससे स्पष्ट है कि पेड़-पौधों में पानी की बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है, मगर आमदनी की बहुधा कमी ही बनी रहती है। फिर भी वाष्प-त्याग के प्रभाव से इसकी बहुत बड़ी छीज होती रहती है। पौधों में इस छीज को रोकने के कुछ उपायों तथा जलसंचय के कुछ साधनों का हमने इस परिच्छेद में उल्लेख करने का प्रयत्न किया है; परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, भूमि में भी जलसंचय के अनेक साधन वर्त्तमान हैं और चतुर किसान तथा निपुण बागवान का भी बहुत-कुछ हाथ रहता है। आगे चलकर फिर कभी प्रसंग आने पर हम इन बातों पर विचार करेंगे।

स्तनधारी पशुओं के मुख्य समूहों का सरसरी तौर पर एक दृश्य

इसमें चित्रकार ने कहीं पहाड़ों पर रहनेवाले, कहीं मैदानों में विचरनेवाले, खुरदार और बिना खुरवाले पशु दिखाए हैं तो कहीं मोटी खालवाले शाकाहारी या मांसाहारी जीव दिखाए हैं। साथ ही कहीं वृक्ष पर रहनेवाले तो कहीं पानी में या धरती के भीतर बिलों में रहनेवाले कुछ जीव भी प्रदर्शित हैं। (चित्र—लेखक के आदेशानुसार)

भारतवर्ष तथा अन्य देशों के स्तनधारी जीव और उनकी रहन-सहन—१

"यह अद्भुत वैचित्र्यपूर्ण जगत् सहस्रों प्रकार के जीव-जन्तुओं की जीवन-लीला का क्षेत्र है। सब अपने-अपने ढंग के निराले हैं। सभी की रचना अनोखी है।" कहीं विशाल हाथी और भीमकाय ह्वेल मिलती है तो कहीं नन्हीं-सी चुहिया। आज हम आपको जन्तु-जगत् के इन्हीं जीवों में से कुछ का हाल बतलायेंगे जिनमें से कई एक से आप परिचित हैं। कौन-सा ऐसा भारतवासी है जो गाय, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शेर, चीता, हिरन, खरगोश, छछूँदर आदि जीवों को न जानता हो? किन्तु इस समूह के कितने ही जीव ऐसे हैं जो बड़े ही विचित्र और अद्भुत हैं और जिनसे साधारण लोग परिचित नहीं हैं। ये सभी स्तनधारी समुदाय के सदस्य हैं और इनकी लगभग ४००० उपजातियाँ पृथ्वी पर इस समय विद्यमान हैं। अतः हम यहाँ कुछ चुनी हुई उपजातियों का ही उल्लेख कर सकते हैं, क्योंकि इतनी अधिक उपजातियों का यहाँ वर्णन करना नितान्त असम्भव है।

नाना प्रकार के स्तनधारी और उनकी विशेषताएँ

स्तनपोषियों में इतनी अधिक विचित्रता तथा भिन्नता पाई जाने का मुख्य कारण यही है कि उनकी रहन-सहन के ढंग बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। उनमें से अधिकतर स्थल पर वास करते हैं, परन्तु कुछ वृक्ष पर जीवन बितानेवाले भी हैं, जैसे बन्दर, गिलहरी, स्लौथ (Sloth) इत्यादि; तथा कुछ वायु में विचरण करनेवाले भी हैं, जैसे चमगादड़, जिनके चिड़ियों के समान पंख होते हैं। कुछ गिलहरियाँ ऐसी भी हैं जो वृक्षों से धीरे-धीरे हवा में फिसलती हुई ज़मीन पर उड़ आती हैं। बहुत-से स्तनपोषी जानवर जल-वासी भी हैं, जैसे ह्वेल, समुद्री गाय, सूँस, दरियाई घोड़ा आदि। कुछ ऐसी उपजातियाँ भी हैं, जो चूहे और छछूँदर की तरह क़रीब-क़रीब अपनी सारी ज़िन्दगी धरती के भीतर ही बिता देती हैं, तथा कुछ पशु ऐसे भी हैं जो अपने जीवन का कुछ समय बाहर तथा कुछ ज़मीन के भीतर भिटों में गुज़ारते हैं, जैसे भेड़िया, सेही और घास के कुत्ते सिनोमिस (Cynomys) इत्यादि। बहुतेरे ठंडे-ठंडे पहाड़ों और बर्फ़ पर रहने के आदी हो गए हैं और कुछ को अत्यन्त गर्म बालुकामय प्रदेशों में ही रहना अच्छा लगता है।

ये सब नाना प्रकार के स्तनधारी अपने शरीर के बालों द्वारा अन्य समूह के जीवों से सहज में ही पृथक् किए जा सकते हैं। इनके मुख्य लक्षण "जन्तु जगत् का संक्षिप्त दृश्य" (भाग ६) वाले लेख में हम आपको पहले ही बतला चुके हैं। यहाँ हम इतनी ही याद दिला देना चाहते हैं कि इनकी दूसरी विशेषता यह है कि सब मादाओं के स्तन होते हैं, जिनके द्वारा दूध पिलाकर वे अपने बच्चों का पालन करती हैं। तीसरी विशेषता यह भी है कि इनमें से एक कक्षा के जीवों के अतिरिक्त सभी के बच्चे पैदा होते हैं, अण्डे नहीं।

किसी-किसी के शरीर पर बालों की जगह सेही और एकिडना (Echidna) की भाँति मोटे-मोटे काँटे होते हैं। किसी के शरीर पर कड़े छिलके की तहें या सिल्ले जैसे मोटे पर्त मढ़े रहते हैं, उदाहरणार्थ साल या पैंगोलिन तथा आर्मे-डिल्लो (Armadillo) के ऊपर। ये कड़े काँटे और पर्त भी उन्हीं पदार्थों के बने होते हैं, जिनसे बाल बनते हैं। शत्रुओं से सुरक्षित रहने के लिए और उनसे युद्ध करने के लिए इनमें नाना प्रकार की युक्तियाँ देखने में आती हैं। दाँत, चंगुल, नख, सींग और खुर आदि ही इनके शस्त्र हैं, जो समय पर इनके काम आते हैं। गैंडे और मवेशियों के सींग के ऊपर चढ़ा रहनेवाला खोल खुर और चंगुल की तरह चर्म की ऊपरी तह से ही बनता है।

बहुत-से दूसरे जानवरों के सींग हड्डियों के बने होते हैं और मवेशियों के सींग में भी बीच का भाग हड्डी का ही होता है। हिरन की तरह के कुछ जीवों के सींग हर साल गिर जाते हैं और उनकी जगह नए बन जाते हैं; परन्तु भेड़, बकरी और गाय में साधारणतया एक ही जोड़ा सींग जीवन भर बना रहता है। बहुत-सी उपजातियों में सींग केवल नरों के ही होते हैं, मादा के नहीं।

भोजन और दाँत का सम्बन्ध

स्तनधारियों के दाँत उनकी रोचक सम्पत्तियों में से एक हैं, जो भिन्न-भिन्न उपजातियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं और जिनसे पता चलता है कि वे किस प्रकार का भोजन करते हैं। अधिकांश जीवों में तो दाँत होते ही हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके दाँत बिल्कुल ही नहीं होते। कुछ ऐसे हैं जिनमें युवावस्था में दाँत नहीं पाये जाते, जैसे बिना बालवाली ह्वेल और अंडे देनेवाले एकछिद्रीय स्तनपोषी तथा लम्बी चोंच का चींटी खानेवाला जानवर। आम तौर से चार प्रकार के दाँत हर एक जबड़े में होते हैं:—(१) सामने की ओर छेनी जैसे तेज़ कुतरनेवाले कृन्तक; (२) उनके इधर-उधर एक-एक नोकीले रदनक दाँत या कीले; (३) कीलों के पीछे गालों में अगले चबानेवाले दाँत, जिन्हें अग्रचर्वणक या दूध डाढ़ें भी कहते हैं; (४) सबसे पीछे असली डाढ़ें या चबानेवाले दाँत। अधिकांश स्तनधारियों में बचपन में निकलनेवाले दाँत—जो दूध के दाँत कहलाते हैं—गिर जाते हैं और उनकी जगह मज़बूत दाँत निकल आते हैं।

दाँतों की शक्ल और जन्तु के भोजन की आदत में क्या सम्बन्ध है, यह बात आप आगे के दृष्टान्तों से भली भाँति समझ सकेंगे। ह्वेल और सूँस से मिलते-जुलते एक समुद्री जल-निवासी जीव डालफ़िन (Dolphin) में, जो विशेषकर मछलियाँ ही खाता है, बहुत-से तेज़ और नोकीले दाँत पाये जाते हैं। कुत्तों के सदृश मांसाहारी जानवरों के रदनक दाँत या कीलें बड़ी-बड़ी होती हैं, जिससे कि वे शिकार को पकड़कर चीर डालें। उनके कुतरनेवाले दाँत छोटे और क़रीब-क़रीब बेकार होते हैं और डाढ़ों में काटने या कुचलने के लिए पैने किनारे होते हैं। गाय-बैल आदि घास खानेवालों के सामने के दाँत चौड़े होते हैं, जिससे वे सहज में पौधों को काट या कुतर सकें। उनमें कीलें होती ही नहीं, किन्तु चबाने के लिए डाढ़ें चौड़ी होती हैं। ख़रगोश की तरह के कुतरनेवाले प्राणियों के कृन्तक दन्त जीवन भर बढ़ते रहते हैं, और लगातार कुतरने से वे घिसते रहते हैं, जिससे उनकी तीक्ष्ण धार और लम्बाई काम के योग्य बनी रहती है। छछूँदर जैसे कीड़े-मकोड़े खानेवाले प्राणी अपने निकले हुए कृन्तक दाँतों से कीड़ों को पकड़ते और अगली तथा पिछली डाढ़ों के नोकीले भागों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। सर्व-भक्षक जन्तुओं के दाँत ऐसे होते हैं कि वे मांस और साग-पात दोनों ही को अच्छी तरह खा और चबा सकते हैं।

स्तनपोषियों के मुख्य समूहों पर एक सरसरी नज़र

रचना और भोजन के अनुसार वैज्ञानिकों ने इन जीवों को कई कक्षाओं में बाँटा है। नीचे दी हुई सूची से आपको सारे वर्ग का एक सरसरी तौर पर ज्ञान हो सकता है:—

(१) अंडे देनेवाले एकछिद्रीय जन्तु, जिनमें आस्ट्रेलिया-निवासी बतख़चोंचा या डकबिल (Duckbill) तथा कँटीला चींटाहारी या एन्टईटर (Spiny Anteater) सम्मिलित हैं।

(२) थैलीवाले स्तनपोषी या मार्सूपियल्स (Marsupials), जो अपने बच्चों को जन्म के बाद कुछ दिनों तक पेट के ऊपर एक थैली में रखकर उनका पालन करते हैं। ये भी विशेषकर आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका में मिलते हैं, उदाहरणार्थ—कंगारू, ओपौसुम (Opossum), वलाबी (Wallaby) आदि।

(३) कृन्तक दन्त-विहीन या ईडेनटेट्स (Edentates), जिनके दाँतों पर ऊपरी चमकदार ऐनेमेलवाला पर्त नहीं होता। इनमें से अधिकतर बड़े अजीब शक्ल के जीव हैं जैसे—भारतीय साल, आर्मेडिल्लो, स्लौथ आदि।

(४) कीड़े-मकोड़े खानेवाले कीटाणु-भक्षक अथवा इन्सैक्टीवोर्स (Insectivores), जो सभी छोटे होते हैं और धरती में बिल खोदकर रहते हैं। इनमें से भाऊ-चूहा (Hedge hog), छछूँदर और श्रू (Shrew) प्रसिद्ध हैं।

(५) कुतरनेवाले जीव या रोडैन्ट्स (Rodents), जिनमें कुतरनेवाले दाँत सदा बढ़ा करते हैं। इनकी साधारण उपजातियाँ गिलहरी, सेही, ख़रगोश, चूहे, बीवर आदि हैं।

(६) उड़नेवाले स्तनपोषियों में चमगादड़ कक्षा (Cheiroptera) के अतिरिक्त और कोई स्तनपोषी वास्तव में उड़नेवाले नहीं कहे जा सकते।

(७) खुरवाले या अंगुलेट्स (Ungulates), जो अधिकतर बड़े डील के होते हैं और जिनमें नख के बजाय खुर मिलते हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनके पैरों की उँगलियों की संख्या विषम (odd) होती है, जैसे घोड़ा, गधा, ज़ेबरा, गैंडा और टैपीर (Tapir), तथा कुछ ऐसे हैं जिनकी

उँगलियाँ सम (even) होती हैं, जैसे ऊँट, जिराफ़, हिप्पोपोटैमस, सुअर, हिरन, भेड़, बकरी आदि।

(८) मांसाहारी या कार्नीवोर्स (Carnivores), जो अपने तीक्ष्ण दाँतों और सुदृढ़ चंगुलों के द्वारा अन्य पशुओं को फाड़कर खा जाते हैं—जैसे शेर, लोमड़ी, कुत्ता, बिल्ली, भालू, सील, वालरस इत्यादि।

(९) विशाल जल-निवासी स्तनपोषी, जैसे समुद्री गाय अथवा साइरीनिया (Sirenia) तथा ह्वेल सिटेसिया (Cetacea), जो जल में ही निवास करते हैं तथा जिनमें से कुछ इस संसार के सबसे बड़े प्राणी हैं।

(१०) अन्त में, सबसे उच्च श्रेणी के प्रधान-भागीय (Primates), जिनके हाथ-पैरों में नख होते हैं और जो अपने अँगूठे को मोड़कर उँगलियों से मिला सकते हैं। उनकी सब से मुख्य विशेषता उनका बड़ा मस्तिष्क है। इन्हीं में दुनिया के सारे वानर, वनमानुष, और हम आप अर्थात् समस्त मानव भी सम्मिलित हैं। इनकी रोचक कहानी हम आपको पिछले कई लेखों में सुना चुके हैं।

मनुष्य का सबसे पहला मित्र कुत्ता

अलास्का-निवासी एस्किमो और उनकी बर्फ़ पर फिसलनेवाली गाड़ी, जिसमें ११ कुत्ते जुते हुए हैं। अगले कुत्ते के सिवा शेष सब ५ जोड़ियों में लगे रहते हैं। बिना लगाम के ही आगेवाला कुत्ता अथवा नेता अपने मालिक की आवाज़ के संकेत पर गाड़ी को ठीक राह पर ले जाता है। क्या यह इनकी चतुराई का उदाहरण नहीं?

ऊपर बतलाए हुए विभिन्न प्रकार के जानवरों में से बहुतेरे ऐसे हैं जो मनुष्य के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनको मनुष्य ने पालतू भी बना लिया है। गाय, कुत्ता, घोड़ा, बकरी इत्यादि इसी प्रकार के पशु हैं, जिनको मनुष्य अत्यन्त प्राचीन काल से अपना चुका है। कुछ ऐसे भी हैं जो अब तक पूर्ण रीति से घरेलू नहीं बन पाये हैं, किन्तु आशा है कि धीरे-धीरे कुछ समय में वे भी पालतू बन जायँगे। जो पशु मनुष्य के लिए सबसे ज़रूरी हैं, उनमें से कुछ हमारी बस्तियों के आस-पास ही इकट्ठे रहते हैं। वे किसानों के प्रति दिन के साथी हैं और सदा उनकी रखवाली में रहते हैं। उनकी स्वतन्त्रता सीमित है। उनका खाना भी उन्हें उनके मालिक ही देते हैं। उनका जीवन भी मानव-जीवन के समान ही बहुत-कुछ कृत्रिम और सभ्य बन गया है।

मनुष्य और उसके सहायक पालतू जीव

सच तो यह है कि इन घरेलू जानवरों ने मनुष्य की सभ्यता की उन्नति में बहुत बड़ा भाग लिया है। यदि प्राचीन मनुष्य कुत्ते के समान वफ़ादार तथा घोड़े, बैल, गाय और बकरी की तरह लाभदायक जन्तुओं को सिखाने तथा अपने अधीन रखने में सफल न होता तो आज हमारा जीवन इतना सुगम और सरल न होता। हम सभी जानते हैं कि प्रागैतिहासिक काल में हमारे पूर्वज जंगली थे। वे देश-देश में भटका करते थे। अपने भोजन और वस्त्र के लिए उन्हें अपनी शिकारी कुशलता का ही सहारा लेना पड़ता था। समय बीतने पर जब उन्होंने आवारागर्दी की ज़िन्दगी छोड़ी और इकट्ठे होकर छोटी-छोटी बस्तियों में रहना शुरू किया तो कभी-कभी वे जानवरों के नन्हें-नन्हें बच्चों को पकड़कर अवश्य अपने दिल-बहलाव के लिए अपने साथ रखते रहे होंगे। धीरे-धीरे जब ये पालतू बच्चे बड़े हुए होंगे तो उनके भी बच्चे हुए होंगे और इसी तरह घरेलू जानवरों की पहली नस्लें बनी होंगी।

मनोरंजन के लिए पाले हुए इन जानवरों से मनुष्य ने शीघ्र ही नाना प्रकार के लाभ उठाना सीख लिया। शिकार न मिलने पर उसे भूखा रहने की भी ज़रूरत न रह गई, क्योंकि पाले हुए बैल, बकरी या भेड़ को ही काटकर वह अपनी हाँडी गरम कर सकता था। पकड़कर रक्खी हुई गाय से उसे

इच्छानुसार दूध भी मिलने लगा और ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र बनाने के लिए भेड़ों से ऊन तथा बकरों से बाल भी अब प्राप्त होने लगे। इस प्रकार मनुष्य और पशुओं का पारस्परिक सम्बन्ध लगातार घनिष्ठ होता गया। बहुत-से लाभदायक जानवरों को मनुष्य ने पालतू बना लिया और उसका यह कार्य अब भी जारी है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का सबसे पहला मित्र कुत्ता ही था। अब भी कुत्ता और बिल्ली ही दुनिया भर में सबसे प्रसिद्ध घरेलू जानवर हैं। बिल्ली तो केवल हमारे मनोरंजन का ही एक साधन है, यद्यपि वह चूहे और चुहियों को कम करने में भी सहायक होती है; किन्तु कुत्ता मनुष्य का विश्वसनीय मित्र तथा उसकी सम्पत्ति का पहरुआ ही नहीं है वरन् उसको और भी बहुत-से काम सिखा लिये गये हैं। उसकी बहुत-सी चतुराइयाँ आपने सरकसों में देखी होंगी। कहीं-कहीं आजकल कुत्तों से बर्फ़ की गाड़ी खींचने का काम लिया जाता है। पाश्चात्य देशों की पुलिस उनसे अपराधी को घेरने और पकड़ने का कार्य कराती है। भाँति-भाँति के शिकारों को घेरना तथा मरने पर उन्हें उठाकर अपने मालिक के पास ले आना तो उसके लिए एक मामूली-सी बात है।
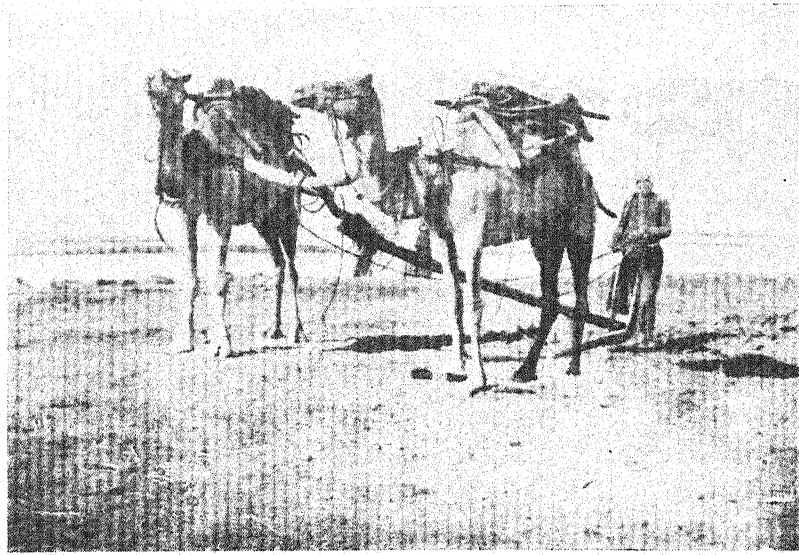
मिस्र देश में ऊँटों से हल चलाने का काम लिया जाता है।

स्तनपोषी इन चार मुख्य रीतियों से हमारी सेवा करते हैं—

(१) भोजन-सामग्री देकर	**(२) वस्त्र के लिए सामग्री देकर**
(अ) मांस	(अ) ऊन और बाल
(आ) दूध	(आ) खाल और समूर
(३) सहायता देकर	**(४) अन्य उपयोगी वस्तुएँ देकर**
(अ) शिकार में	(अ) हड्डी, हाथीदाँत, सींग
(आ) एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में अथवा सवारी ढोने में	(आ) सरेस
	(इ) तेल, चर्बी आदि पदार्थ
	(ई) बोझा ढोने में

इससे यह न समझना चाहिये कि अधिकतर पशु हमारे लिए गुणकारी ही हैं। बहुतेरे ऐसे भयंकर जीव भी पृथ्वी पर अभी हैं जो हमारे प्राणों के घातक हैं। अवसर प्राप्त होने पर वे हम पर आक्रमण करने से कभी नहीं चूकते। यह अवश्य है कि दुनिया की आबादी बढ़ जाने तथा जंगलों के नष्ट हो जाने से मनुष्य के इन शत्रुओं की संख्या बहुत कम हो गई है। वनों में भी बन्दूक़ लिये हुए मनुष्य उनका मुक़ाबला करता है। अनेकों पशु ऐसे हैं, जिन्हें मनुष्य ने शिकार के शौक़ में, अहानिकारक होते हुए भी, इतनी संख्या में नष्ट कर डाला है कि कई एक का तो इस जगतीतल से नाम-निशान भी मिट गया है और कई केवल नाम मात्र के लिए बच रहे हैं। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका में बिसन, कैनाडा में बीवर और भारतवर्ष में नीलगाय और शेर बहुत थोड़ी-सी संख्या में शेष रह गए हैं। अगर इनके मारने के लिए क़ानूनी रोक-टोक न कर दी गई होती तो ये सब भी अपना अस्तित्व न जाने कब के खो बैठते। इससे स्पष्ट होता है कि अन्य जन्तुओं की तरह इन पशुओं के ऊपर भी सदा से ही मनुष्य अपना आधिपत्य जमाता आया है और जमाता जा रहा है।

ऊपर हम जिन विभिन्न प्रकार की कक्षाओं के पशुओं का उल्लेख कर आए हैं, उन्हीं के अब कुछ चुने हुए उदाहरण हम आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

आस्ट्रेलिया के विचित्र अंडे देनेवाले स्तनपोषी

सबसे प्राचीन और निम्न श्रेणी के स्तनपोषी जीव आस्ट्रेलिया तथा उसके निकटवर्त्ती द्वीपों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाये जाते। आस्ट्रेलिया ही ऐसा देश है कि जहाँ दुनिया में सबसे प्राचीन और निराले जन्तु बचे-खुचे रह

गए हैं। वे सारी दुनिया से अलग छटके हुए इन द्वीपों में उस पुरातन काल के स्मारक-चिह्न के रूप में बचे रह गए हैं जब पृथ्वी पर उरंगम-समुदाय के प्राणियों से पक्षी और पशुओं का विकास हो रहा था। वे विकास के मार्ग पर थोड़ी ही दूर चलकर रह गए। कुछ लक्षण उन्होंने अवश्य स्तनधारी जीवों के प्राप्त कर लिये, किन्तु उरंगम और पक्षियों के भी कुछ गुण उनमें अब भी दिखलाई पड़ते हैं। इन एकछिद्रीय जीवों की रचना एक रहस्यपूर्ण समस्या है। स्थान की कमी के कारण हम इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते। यहाँ इतना ही कह देना यथेष्ट है कि वे चिड़ियों और उरंगमों की तरह अंडे देते हैं, लेकिन जब अंडों से बच्चे निकल आते हैं तो वे माता के दुग्ध-पान पर कुछ समय तक निर्वाह करते हैं। दूध निकलने के लिए इस कक्षा के अन्य जीवों के समान इनके स्तन नहीं होते, वरन् माताओं के पेट की खाल पर सूक्ष्म छिद्र होते हैं जिनसे दूध निकला करता है। इनके चित्र को देखिए—इनके मुँह की रचना चिड़ियों की चोंच के समान है। शरीर से मल और मूत्र बाहर निकालने के लिए इनके शरीर में एक ही मार्ग रहता है, इसलिए ये एक-छिद्रीय कहलाते हैं। युवावस्था में ये दन्तविहीन होते हैं और इनके नरों की पिछली टाँगों में अंकुश होते हैं।

इन अंडा देनेवाले स्तनधारियों की दो जातियाँ मिलती हैं—एक बतख़चोंचा (Platypus) और द्वितीय काँटेवाला चींटाहारी (Echidna)।

बतख़चोंचा या डकबिल

डकबिल पूर्वी आस्ट्रेलिया और टस्मानिया में नदियों, झीलों और तालाबों के किनारे बिलों में रहते हैं। इनके कोई-कोई बिल ५० फ़ीट तक चले जाते हैं। बिल के छोर पर एक फ़ुट चौड़ी एक छोटी-सी कोठरी होती है, जिसमें वह घास बिछा लेता है और उसी में १—२ तक अंडे देता है। अधिकतर इस बिलनुमा घर के दो दरवाज़े होते हैं—एक ज़मीन के ऊपर बना रहता है और घास-पत्तों से ढका रहता है और दूसरा पानी के भीतर होता है, जिससे यह जीव अँधेरे में निकलकर पानी के जानवरों को बतख़ की तरह पकड़कर खाता है।

इसका शरीर क़रीब १४ इंच लम्बा तथा दुम ५ इंच लम्बी होती है। चोंच की चौड़ाई २ इंच और लम्बाई २½ इंच होती है। पैर की उँगलियों के बीच में तैरने के लिए झिल्ली होती है और सिरे पर खोदने के लिए मज़बूत और तीक्ष्ण चंगुल रहते हैं। बच्चे जब अंडे से निकलते हैं तो माता उनको अपनी दुम से पेट पर चिपकाकर दूध पिलाती है। बाल्यावस्था में ही उनके छोटे-छोटे दाँत होते हैं, जो जवान होने से पहले ही गिर जाते हैं। पक्षी, उरंमग और स्तनपोषी तीनों समुदायों से सम्बन्ध रखनेवाला यह विचित्र प्राणी जब प्रथम बार योरप लाया गया

'एकिडना' (कँटीला चींटाहारी) जो आस्ट्रेलिया, न्यूगिनो तथा उनके निकट के द्वीपों में रहता है। उसकी पीठ पर पीले काँटे होते हैं, जिनके छोर काले होते हैं। इन कड़े काँटों को देखकर उसके शत्रु हिम्मत हार जाते हैं। खटका होने पर एकिडना लिपटकर गोल गेंद-सा हो जाता है और उस समय जान नहीं पड़ता कि वह कँटीला पौधा है या पशु, जैसा नीचे के चित्र में आप देख रहे हैं।
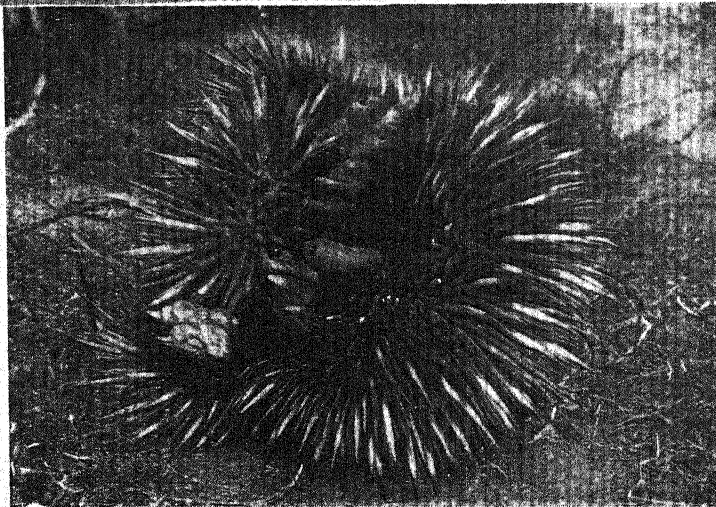
था तो लोग समझते थे कि "किसी मसख़रे ने किसी अपरिचित जन्तु के मुँह में चतुराई के साथ बतख़ की चोंच ठूँस दी है।"

काँटेवाला चींटाहारी या एकिडना

एकिडना या चींटाहारी विशेषकर चींटियों से ही अपना पेट पालता है, परन्तु वह अन्य छोटे-छोटे कीटाणु भी खा लेता है। उसकी लम्बी जीभ पर चिपकदार लस होता है, इसलिए जहाँ उसने जीभ निकाली नहीं कि सैकड़ों चींटियाँ उस पर लिपटी चली आती हैं। सेही की भाँति वह शत्रु के सामने गेंद सा गोल बनकर काँटों को खड़ा कर लेता है, जिससे शत्रु डरकर उसको छोड़ देता है। उसका शरीर चौड़ा और चपटा होता है। काँटों के अतिरिक्त उसकी पीठ पर बीच-बीच में बाल भी होते हैं, किन्तु नीचे की ओर, अर्थात् पेट पर, केवल बाल ही होते हैं। उसकी दुम भी बड़ी नहीं होती तथा डकबिल के समान उसके बाहरी कान भी नहीं होते। टाँगें छोटी-छोटी और तेज़ तथा मज़बूत नाख़ूनवाली होती हैं। खोदने की उसमें अद्वितीय शक्ति होती है। कड़ी-से-कड़ी भूमि को वह देखते-ही-देखते बालू की तरह खोद डालता है और उसमें घुस जाता है। उसे खोदते देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह दलदल में घुसा चला जा रहा हो। यह जीव भी अंडे ही देता है, परन्तु वह इन अंडों को अपनी थैली में—जो उसके शरीर पर होती है—रख लेता है। वहीं उसका बच्चा निकलता है और कई सप्ताह तक थैली में बन्द रहता है। इसके उपरान्त माता उसको किसी सुरक्षित स्थान में रख देती है और थोड़े ही समय में वह स्वावलम्बी हो जाता है।

इसकी अनोखी उँगलियाँ ही इसकी सबसे विचित्र निधि हैं। पिछली टाँग की उँगलियाँ चलते समय उल्टी बाहर की ओर मुड़ी रहती हैं और अगले पैर की सामने को। आस्ट्रेलिया और टस्मानियाँ में मिलनेवाली जाति के पैर में पाँच उँगलियाँ होती हैं, किन्तु न्यूगिनी में मिलनेवाली एक उपजाति में केवल तीन ही उँगलियाँ रहती हैं और दूसरी में पाँच। एक जानवर ऐसा भी मिला है, जिसमें अगले पैरों में पाँच-पाँच तथा पिछले में चार-चार उँगलियाँ हुआ करती हैं। उँगलियों के इस अन्तर के ही कारण एक लेखक ने उसको "वह जानवर जिसकी उँगलियों की संख्या निश्चित नहीं है" कहकर संबोधित किया है।

थैलीवाले स्तनपोषी अथवा मार्सूपियल्स

थैलीवाले जन्तुओं का स्थान इतना नीची कोटि का तो नहीं है कि उनके अंडे हों, किन्तु उनके बच्चे अपूर्ण अवस्था में माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। वे बहुत ही छोटे और निस्सहाय होते हैं। भेड़ के बराबर कँगारू का बच्चा जन्म के समय १ इंच का रहता है। बड़े-से-बड़े कँगारू का बच्चा गर्भ में केवल चार-पाँच सप्ताह रहता है और सात-आठ मास तक अपनी माता के पेट की थैली में ही उसका लालन-पालन होता है।

यह २० इंच लम्बा आस्ट्रेलिया और टस्मानिया में मिलनेवाला दूसरा अजीब प्राचीन जन्तु है, जो बतख़चोंचा—प्लेटीपस—कहा जाता है। अपनी चौड़ी चोंच से नदी की मिट्टी को कुरेदकर वह उसमें से बतख़ के समान कीड़े-मकोड़े और सीपी, घोंघा इत्यादि को खाया करता है। अपने रहने के लिए वह नदी के किनारे बिल बना लेता है। घोंसले की खोज में आनेवाले दुश्मनों को धोखा देने के लिए वह झूठी सुरंगें भी बना देता है।

थैली का होना ही इनकी मुख्य विशेषता है। इस थैली को सहारा देने के लिए कूल्हे की हड्डी से दो लम्बी-लम्बी पतली हड्डियाँ आगे को 'V' की शक्ल में निकली रहती हैं। ये हड्डियाँ नरों के शरीर में भी होती हैं। इस कक्षा के कुछ प्राणी थैलीविहीन भी होते हैं। इसी थैली के अन्दर मादाओं में स्तन होते हैं। बच्चा पैदा होते ही माताएँ उन्हें थैली के अन्दर रख लेती हैं। वे बहुत समय तक अपने चूसनेवाले होंठ इन स्तनों से लगाये चिपटे रहते हैं। जब तक बच्चों के अंगों की पूरी वृद्धि नहीं हो जाती वे स्तनों को मुँह में दबाये पड़े रहते हैं। जन्म के समय वे स्तनों से दूध स्वयं नहीं खींच सकते, परन्तु प्रकृति ने ऐसा सुप्रबन्ध कर दिया है कि स्तन बच्चे के मुँह में सहज ही घुसकर फूल जाते हैं और मुँह से नहीं निकलते। इतना ही नहीं, उनमें से दूध अपने आप बच्चों के मुँह में टपकने लगता है। आठवें महीने में बच्चे थैली के बाहर सिर निकालकर बाह्य जगत् का दृश्य देखने लगते हैं। तत्पश्चात् थैली के बाहर कूदकर माँ के

आस-पास खेलते-खाते हुए फिरने लगते हैं। परंतु ज़रा-सा भी खटका होते ही चट् उछलकर फिर माँ की थैली में घुस जाते हैं।

मार्सूपियल्स के कई वंश आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तथा निकटवर्त्ती द्वीपों में पाये जाते हैं। एक वंश अमेरिका अथवा नई दुनिया में मिलता है। इनकी साठ के लगभग उपजातियाँ हैं, जो १ से ५ फ़ीट तक लम्बे क़द की होती हैं। उनकी शक्लें भी तरह-तरह की होती हैं। ये सब शाकाहारी ही होते हैं। लोग इनका मांस खाते हैं, और चमड़े का प्रयोग विविध रीतियों से करते हैं। आस्ट्रेलिया के थैलीवाले जीवों में सर्व-विख्यात कँगारू नामक मार्सूपियल है। यह लखनऊ, कलकत्ता आदि की जन्तुशालाओं में देखा जा सकता है।

कँगारू

कगारू को देखते ही उसके विचित्र और बेडौल शरीर की ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है। प्रकृति ने उसके साथ एक निराला ही उपहास किया है। उसको उछलने में कुशल बनाने के लिए अगले और पिछले शरीर में बहुत अन्तर रक्खा है। आगे का धड़ क़रीब बड़े कुत्ते के डौल का होता है और पिछला धड़ खच्चर के समान भारी होता है। इसकी मोटी-सी, लम्बी और भारी दुम पीछे पड़ी रहती है और बैठने में तीसरी टाँग का काम देती है। यदि आप उसको बैठा हुआ देखें तो यही कहेंगे कि वह तिपाई पर बैठा है। अगली टाँगें कमज़ोर और छोटी होती हैं, जो अगले शरीर को ज़मीन पर चरते या चलते समय साधे रहती हैं। आस्ट्रेलिया और टस्मानिया का बड़ा और भूरा कँगारू ५ फ़ीट ऊँचा और वज़न में २¾ मन के लगभग तक भारी होता है। उसके दुम की लम्बाई ४ फ़ीट से भी अधिक होती है।

आस्ट्रेलिया का थैलीवाला भूरा कँगारू। इसका बच्चा थैली में से मुँह निकाले दिखलाई पड़ रहा है। इस जानवर का अगला धड़ और आगे की टाँगें पीछे के धड़ और पिछली टाँगों से बहुत कमज़ोर होते हैं। बैठने के लिए यह अपनी दुम से तीसरी टाँग का काम लेता है। यह कँगारू दुम सहित ९॥ फ़ीट लम्बा होता है। इसका वज़न भी २०० पौंड या लगभग १०० सेर के होता है, लेकिन इसका बच्चा जन्म के समय केवल १ इंच के बराबर होता है।

साधारणतः वह धीरे-धीरे चलता है। यदि उसे जल्दी होती है तो दौड़ने के बजाय वह अजीब तरह से अपनी दुम के सहारे उछलता-कूदता, छलाँगें मारता हुआ निकल जाता है। ९ या १० फ़ीट ऊँची झाड़ियाँ वह आसानी से फाँद जाता है। ५ फ़ीट की छलाँग मारना तो उसके बाएँ हाथ का खेल है। पीछा किये जाने पर २५-३० फ़ीट धरती पार कर जाना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं। पत्थर, चट्टानें, गिरे हुए पेड़ और ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ पार करते उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता।

स्वभाव में कँगारू भेड़-बकरी की तरह डरपोक होता है। जान पड़ता है कि ख़रगोश की तरह वह भी ठीक अपने सामने की चीज़ को नहीं देख पाता। उसकी देखने, सूँघने और सुनने की शक्तियाँ तीक्ष्ण होती हैं।

औपौसुम

उत्तरी अमेरिका में जो थैलीवाला प्राणी मिलता है वह औपौसुम कहलाता है। वर्जीनिया का औपौसुम ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ज़्यादातर वृक्षों ही पर रहता है और अपनी दुम से भी डालों को पकड़ सकता है। क़द में वह घरेलू बिल्ली के ही बराबर होता है। दुम की लम्बाई फ़ुट भर होती है। उसके बाल नर्म और लम्बे होते हैं तथा कपड़ा बुनने के काम में आते हैं। कुछ लोग इसका मांस भी खाते हैं। इसकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि इसके भी बच्चे ऐसी अपूर्ण अवस्था में पैदा होते हैं कि रेंगकर अपनी माता की थैली में घुस जाते हैं। इसके एक बार में पाँच से चौदह तक बच्चे पैदा होते हैं और मादाएँ साल में दो या तीन बार बच्चा देती हैं। दूसरी बात यह है कि जब इसको पकड़े जाने का भय या अन्य किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका होती है तो यह ऐसा चुपचाप पड़ जाता है मानों मर गया हो। इसका शत्रु या पकड़नेवाला उसकी यह आदत न जानने पर उसको मरा जानकर उसकी तरफ़ से अपना ध्यान हटा लेता है। इस प्रकार मरने का बहाना किये पड़ा औपौसुम अवसर पाते ही चट से जी जाता है और ख़तरे से दूर भाग जाता है। औपौसुम दिन में अधिकतर छिपा

रहता है और सूर्यास्त के पश्चात् बाहर निकलकर रात भर इधर-उधर कीड़े-मकोड़े तथा अन्य भोजन-सामग्री की खोज में घूमता फिरता है।

ओपौसुम की दुम उसके लिए बड़ी ही उपयोगी वस्तु है। छोटे बच्चे अपनी पकड़नेवाली दुम से एक बहुत ही अच्छा काम लेते हैं। वे अपनी माँ की पीठ पर लद जाते हैं तथा अपनी छोटी दुमों को माँ की दुम के चारों ओर लपेट लेते हैं। माता अपनी दुम को पीठ के ऊपर मोड़ लेती है, जिससे कि बच्चे मज़बूती से उसे यथास्थान पकड़े रहें। माँ जो बोझ अपने साथ लादे फिरती है उसे जानकर हमको अचम्भा होता है। छोटी-सी बिल्ली के बराबर का ओपौसुम कभी-कभी चूहे के बराबरवाले १०-१२ बच्चे अपनी पीठ पर चिपटाये रहता है।

पेड़ों पर रहनेवाले कौला या भालू मार्सूपियल और वायुयान के समान उड़नेवाले फ़ैलेन्जर मार्सूपियल भी जन्तु-जगत् के उत्कृष्ट और निराले उदाहरण हैं।

कृन्तक-दन्त-विहीन या ईडेनटेट्स

ये प्राणी भी नीची कोटि के स्तनपोषी हैं, लेकिन उपरोक्त दोनों कक्षाओं के जन्तुओं से ये बिल्कुल ही भिन्न हैं। इनके बच्चे और सब स्तनधारियों की तरह अपनी माताओं के गर्भ में जरायु (नार) द्वारा जुड़े रहते हैं। इनको दन्त-विहीन या बिना दाँतवाले इसलिए कहते हैं कि इनके जबड़ों में सामने के दाँत नहीं होते। प्रायः इनके जबड़ों में डाढ़ें होती हैं। चींटाहारी और पैंगोलिन ही ऐसे प्राणी हैं जिनमें किसी भी प्रकार का कोई भी दाँत नहीं होता। इनके सिर और मस्तिष्क छोटे होते हैं—कुछ स्लौथ और चींटाहारी की तरह बालों से ढके होते हैं। आर्मेडिल्लो की तरह के कुछ प्राणियों के शरीर पर कड़ी जोड़दार हड्डियों की ढाल मढ़ी होती है। पैंगोलिन या साल के शरीर कड़े सिन्नों की प्लेटों से सुरक्षित रहते हैं। इन पाँचों वंश के प्राणी या तो स्थलचर होते हैं अथवा वृक्ष-वासी। स्लौथ, चींटाहारी और आर्मेडिल्लो सब ही नई दुनिया के रहनेवाले हैं। सिन्नेवाले चींटाहारी एशिया और अफ़्रीका में मिलते हैं और आर्डवार्क (Aardvark) केवल अफ़्रीका में ही पाये जाते हैं। स्लौथ को छोड़कर इस वर्ग के शेष सब जीव मांसाहारी या कीटाहारी ही हैं। चींटाहारी, पैंगोलिन और आर्डवार्क अधिकतर दीमक पर ही निर्भर रहते हैं।

छलाँगें मारते हुए तीन कंगारुओं का एक सुन्दर चित्र। कंगरू अपनी मज़बूत दुम के सहारे कूद-कूदकर चलता है। वह और जानवरों की तरह दौड़ नहीं सकता; परन्तु २५-३० फ़ीट लम्बी छलाँग मारना और ऊँची-ऊँची झाड़ियाँ कूद जाना उसके लिए एक मामूली-सी बात है।

स्लौथ

दक्षिणी और मध्य अमेरिका के जंगलों में बहुतेरे अजीब जानवर बसे हुए हैं, किन्तु उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो शक्ल-सूरत तथा स्वभाव

नें स्लौथ से अधिक अनूठा हो । ये आलसी जीव वृक्षों पर ही अपना सारा जीवन व्यतीत करते हैं। डालों पर उलटे लटकते हुए वे एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं। दिन में तो ये वृक्ष की घनी पत्तियों की ओट में छिपे रहते हैं और रात होने पर यही पत्तियाँ उनका आहार बन जाती हैं। ज़मीन पर वे पानी पीने के लिए भी नहीं उतरते। रसीले फल-फूल और पत्तियों से ही उनकी तृष्णा शान्त हो जाती है। यदि कोई उन्हें पेड़ पर से उतारकर ज़मीन पर डाल दे तो वे हाथ-पाँव फैलाकर चित लेट जाते हैं और उनके लिए उठना असम्भव हो जाता है। उनकी वह दशा देखकर बड़ी ही हँसी आती है! उल्टे लटकने के अतिरिक्त इनमें और भी अनोखे गुण हैं। उनके लम्बे, मोटे, घने बालों में हरी-सी चमक होती है, जिससे वे पत्तियों में ऐसे छिप जाते हैं कि उनके शत्रु उन्हें जल्दी देख नहीं पाते। उनके बाल अन्य स्तनपोषियों से भिन्न रीति से शरीर पर इस तरह सधे रहते हैं कि जब वे पेड़ पर उल्टे लटके रहें तो वर्षा का पानी जल्दी से नीचे बह जाय। इतना ही नहीं, इन बालों में हज़ारों नन्हीं-नन्हीं हरे रंग की वनस्पतियाँ उग आती हैं और ये ही इनके बालों की हरी चमक का कारण होती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि यह एक ऐसा जानवर है, जो अपने शरीर पर बग़ीचा लगाये रहता है!

यह उत्तरी तथा मध्य अमेरिका का अद्भुत उल्टा लटकनेवाला स्लौथ है। अपना सिर नीचे किये हुए और टाँगों को डाल पर लपेटकर यह आगे सरकता चला जाता है। इसके अगले पैर में दो और पिछले में तीन उँगलियाँ होती हैं। बालों का घुमाव ऐसा होता है कि वर्षा का जल शरीर पर ठहरने नहीं पाता। इस औंधे पशु की सारी दुनिया ही उल्टी है!
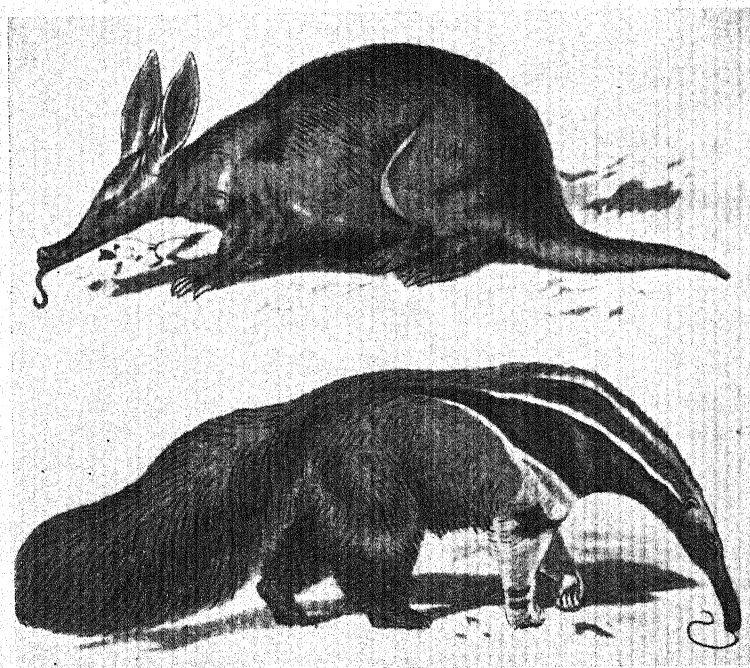
दो प्रकार के विचित्र रूपधारी दन्तविहीन प्राणी—(ऊपर) बड़ा चींटाहारी (मिरमैकोफ़ैगा) और (नीचे) चींटी खानेवाला भालू (आर्डवार्क)। मिरमैकोफ़ैगा में, धरती को खोदकर दीमक निकालने के लिए, आगे के पैर की बीच की उँगली में अन्य नखों की अपेक्षा आगे को निकला हुआ एक बड़ा नख होता है। आर्डवार्क भी अपना निर्वाह दीमक और चींटियों के ही द्वारा करता है।

स्थानाभाव के कारण न हम यहाँ इसके साथी आर्मेडिल्लो का ही परिचय आपको करा सकेंगे और न अफ्रीका-निवासी आर्डवार्क की ही रोचक कहानी सुना सकेंगे; किन्तु हम इसी कक्षा के एक जन्तु—भारतीय साल—का हाल लिखकर इस लेख को समाप्त कर देंगे।

भारतीय साल या सिल्लू

साल या पैंगोलिन वंश के जन्तु भी आर्मेडिल्लो के भाई-बन्धु हैं और भारतवर्ष के अलावा जावा, बोर्नियो, फ़िलिप्पाइन्स तथा पास-पड़ोस के द्वीपों, दक्षिणी चीन और अफ्रीका में भी पाये जाते हैं। इनके सारे शरीर और दुम के ऊपर दुर्भेद्य कड़ी प्लेटें या सिन्ने, एक पर एक खपरैल के समान, लगी रहती हैं। ये प्लेटें इतनी कड़ी होती हैं कि कहा जाता है कि ये पिस्तौल की गोली भी सह लेती हैं। आक्रमण होने पर पैंगोलिन या साल अपने मुँह और दुम को धड़ के नीचे टाँगों के बीच लपेटकर गोल गेंद-सा बन जाता है और प्लेटों के तीक्ष्ण छोर ऊपर को उठ जाते हैं। फिर किस शत्रु का इतना साहस हो सकता है कि उस पर मुँह मारे!

भारतवर्ष के पर्वतीय प्रदेशों में साल सब जगह मिलते हैं, किन्तु संख्या में अधिक नहीं। उत्तरी भारत में उसे 'सिल्लू', दक्षिणी भागों में 'साल' और 'बनरोहू' और बंगाल में 'काठपोह' कहा जाता है। साल केवल रात्रि में ही बाहर निकलता है तथा विशेषकर अपनी लम्बी और चिपचिपी ज़बान से दीमक और चींटी पकड़कर खाता है। दिन भर वह अपने बिल या भिटे में छिपा रहता है। भिटे में ८-१० फ़ीट की गहराई पर कोई ६ फ़ीट परिधि की कोठरी होती है, जिसमें एक जोड़ा रहता है। कहा जाता है कि बिल में घुस जाने पर वह द्वार को मिट्टी से बन्द कर लेता है। मादाएँ जाड़े में एक या दो बच्चे देती हैं।

भारतीय साल (पैंगोलिन), जो कभी-कभी रात में वन के पथिकों को दिखलाई पड़ जाता है। उसके शरीर के ऊपर कड़े सिन्नों की पंक्तियाँ कैसी सुन्दर प्रतीत होती हैं! ये ही उसकी रक्षा के प्रमुख साधन हैं। आक्रमण होने पर वह लिपटकर गोल हो जाता है और सिन्नों की नोकें ऊपर को खड़ी हो जाती हैं।
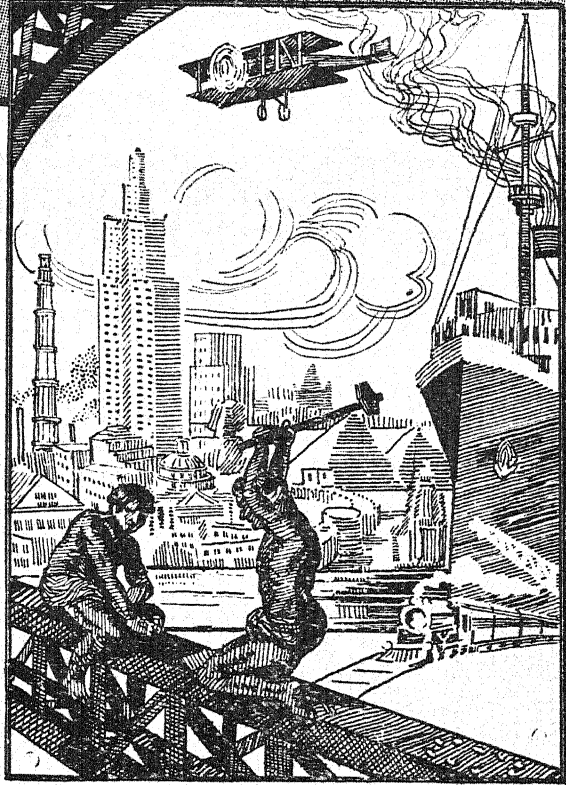
लंका तथा भारत का साल दुम को लेकर ३$\frac{1}{2}$ फ़ीट के लगभग लम्बे होते हैं, किन्तु मलाया का पैंगोलिन भारत के मुक़ाबिले में पतली और लम्बी दुमवाला होता है। इनकी आँखें और बाहरी कान बिलकुल छोटे होते हैं। टाँगें छोटी, पर नाख़ून अत्यन्त मज़बूत और खोदने योग्य होते हैं, जिनकी सहायता से वह अपना भिटा बड़ी ही सुविधापूर्वक खोद लेता है। साल भी आर्मेडिल्लो की तरह अगले पैरों के नखों को मोड़कर नीचे दबाकर चलता है।

अगले लेख में हम स्तनधारियों की अन्य कक्षाओं के कुछ मनोरंजक जीवों से आपका परिचय कराएँगे।

मनुष्य की कहानी
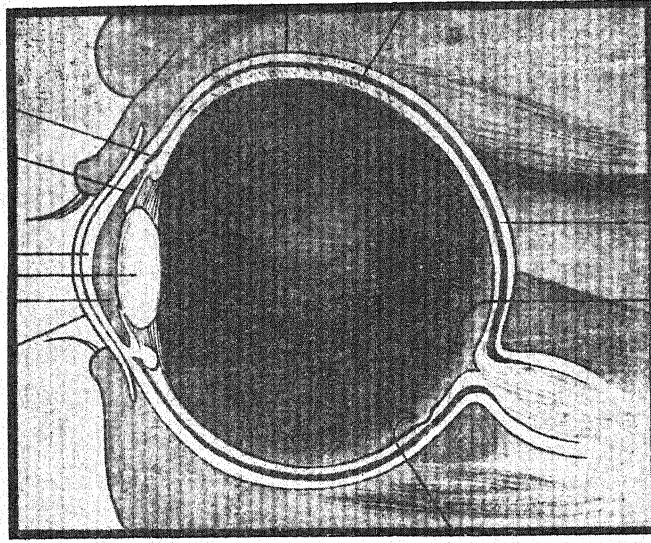
आँख या नेत्र-गोलक का कैमरा—जिसके द्वारा मनुष्य देखते हैं—अपने मुख्य भागों को दिखलाने के लिए बीच से काट दिया गया है। प्रकाश की किरणें कनिका में से होकर नेत्र-गोलक अथवा अक्ष के अन्दर प्रवेश करती हैं। वे अग्रकोष्ठ, ताल और पीछे के कोष्ठ में भरे हुए स्वच्छ द्रव्य को पार करके इन सब भागों के झुकाव और पदार्थ से मुड़कर पीछेवाले अन्तरीय पटल पर केन्द्रीभूत होती है। वहाँ से नाड़ी-सूत्रों द्वारा उसकी उत्तेजना जब मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब हमको दृष्टि का बोध होता है। वास्तव में, आँख नहीं देखती वरन् मस्तिष्क ही देखता है। वह तो बाह्य पदार्थों की प्रतिमूर्त्ति को मस्तिष्क तक पहुँचाने का साधन-मात्र है।
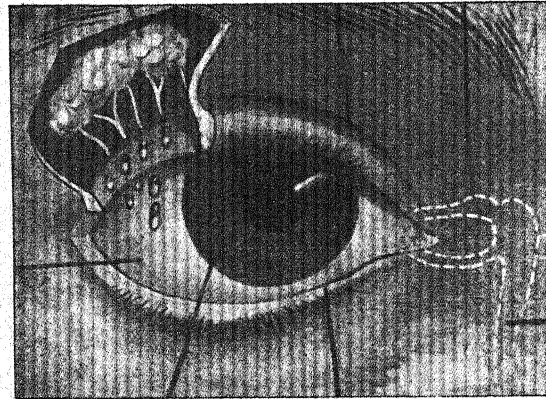
आँसू कैसे बनते हैं और रोते समय हम सिसकते क्यों हैं और नाक क्यों सिकोड़ते हैं? इस प्रश्न का उत्तर चित्र से मिल जाता है। अश्रु-गुत्थी से आँसू बनकर ऊपरी पलक के पीछे नेत्र-गोलक पर बहने लगते हैं और आँख को धोते और साफ़ करते हुए नेत्र के भीतरी कोने में इकट्ठे हो जाते हैं। वहाँ पर एक सूराख़ होता है, जिसमें होकर वे अश्रु-प्रणाली के मार्ग से नाक में जा पहुँचते हैं। इस पानी का उद्देश्य आँख को साफ़ और तर रखना है।
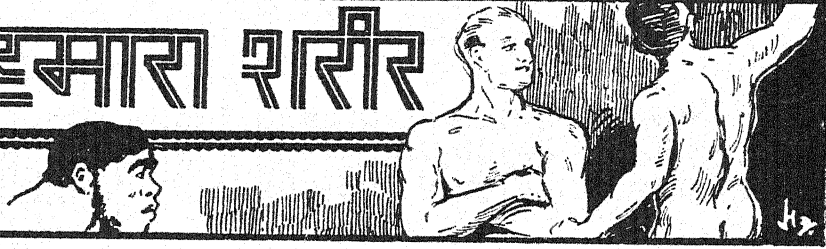
शरीर के द्वार अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ

१—सर्वोत्तम ज्ञानेन्द्रिय—आँख और दृष्टि

शरीर में कुछ अंग ऐसे हैं, जिनके द्वारा वह बाह्य जगत् से सम्बन्धित हो जाता है। यदि ये अंग न हों तो शरीर बाहरी दुनिया से बिल्कुल ही पृथक् हो जाय। यह सम्भव है कि अँधेरे से अँधेरे कारागार का बन्दी भी कभी कुछ शब्द सुन ले, प्रकाश की दो-एक किरणें देख ले या कोई भूलती-भटकती हुई सुगन्ध उसके पास जा पहुँचे, किन्तु एक स्वतन्त्र मनुष्य के यदि आँखें न हों तो वह अपने सामने की भी चीज़ को नहीं देख सकता, कान न हों तो ज़ोर-से-ज़ोर की आवाज़ भी नहीं सुन सकता और यदि नाक न हो तो चाहे कैसी ही मधुर और भीनी सुगन्ध हो वह कदापि उसका अनुभव नहीं कर सकता। वास्तव में आँख, नाक, कान और मुँह ही वे खिड़कियाँ हैं, जिनसे शरीर के बाहर की वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है। प्रस्तुत और अगले लेखों में हम इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों की रचना तथा उनसे सम्बन्धित अन्य बातों का उल्लेख करेंगे।

हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

हमारी चेतना-उत्पादक इन्द्रियों की संख्या परिमित है। सारे शरीर को ढकनेवाली ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा—का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य इन्द्रियाँ हैं वे स्थायी हैं अर्थात् उनके स्थान निश्चित हैं। आप पढ़ चुके हैं कि खाल में स्पर्श के अलावा गर्मी, ठंडक, दबाव और पीड़ा के भी सांवेदनिक कण हैं। सभी प्रकार के सांवेदनिक कण विशेष कोषों से बने होते हैं। इनमें सांवेदनिक स्नायु-तार के रेशे समाप्त होते हैं। इनके उत्तेजित होने से ही मस्तिष्क में संवेदना का अनुभव होता है। इसी तरह आँख, कान, नाक और जीभ में भी अलग-अलग चेतना-उत्पादक कोष होते हैं। शरीर में पाँच मुख्य ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। प्रथम खाल, जिसका सम्बन्ध स्पर्श आदि से है; द्वितीय आँख, जिससे हम देखते हैं; तृतीय कान, जिनके द्वारा हम सुन सकते हैं; चौथी नाक, जिससे हम सूँघ सकते हैं, और पाँचवी जीभ, जिससे हम चीज़ों का स्वाद लेते हैं। इनके अलावा और भी कई साधारण चेतनाएँ होती हैं। भूख, थकान, कमज़ोरी, घबराहट आदि का अनुभव हमें शरीर में फैले हुए स्नायु-जाल की सहायता से होता है। यह ज़रूर है कि ऐसे अनुभव किसी ख़ास भीतरी अवयव में ही होते हैं और उनका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है।

सांवेदनिक स्नायुओं के उत्तेजित होने से मस्तिष्क में जो अनुभव होता है, उसे संवेदना या चेतना कहते हैं। जो विशेष अंग इस उत्तेजना से प्रभावित होकर उसे एक स्नायु-सम्बन्धी प्रेरणा में बदल देते हैं, वे अंग ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाते हैं। ऊपर के कथनानुसार ऐसी इन्द्रियाँ पाँच हैं और वे शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित हैं। इनमें से आँख या दृष्टि की इन्द्रिय बहुत-सी बातों में अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मुख्य और श्रेष्ठ है। हमारे हृदय में और किसी को देखकर कभी भी इतनी जल्दी दया-भाव उत्पन्न नहीं होता और न इतने जल्द कुछ दान देने की ही इच्छा होती है जितना कि एक अन्धे मनुष्य को देखने पर होता है। दृष्टि का न होना या चला जाना जीवन के लिए सबसे भयंकर कष्टों या आपत्तियों में गिना जाता है। फिर भी अत्यन्त खेद का विषय है कि बहुत कम लोग ऐसे हैं जो आँख की बहुमूल्यता को समझते और उसकी उचित रीति से रक्षा करते हैं।

आँख की रचना

यह तो सर्वविदित है कि आँखें खोपड़ी के गड्ढों में बड़ी ख़ूबी के साथ सुरक्षित हैं। बाहर की ओर से उनको साफ़ रखने और ढँकने के लिए दो पलक होते हैं।

पलक

पलक में मांस-पेशियाँ इस प्रकार की होती हैं कि जिनसे वे खुलते और बन्द होते हैं, इधर-उधर घूम-फिर सकते हैं और ऊपर-नीचे उठ भी सकते हैं। पलकों के किनारों पर बाल या बरौनी होती है, जो आँख के अन्दर गर्द-धूल, कूड़ा-कर्कट आदि को जाने से रोकती है। बरौनी के बाल मोटे या जल्दी बढ़नेवाले होते है। जब एक बाल गिर जाता है या उखड़ जाता है तो उसकी जगह दूसरा जल्दी से निकल आता है। पलकों के किनारों पर भीतर की ओर गुत्थियों की एक पंक्ति होती है जो बाहरी किनारे पर खुलती हैं। जब इनमें से कोई गुत्थी बन्द हो जाती है और उनमें बननेवाला द्रव्य बाहर नहीं निकल पाता तो वह फूल जाती है। इसी तरह बिलनी या गुहेरी बन जाती है। पलक की भीतरी तह एक पतली चिकनी-सी झिल्ली है, जो ख़ून की महीन नसों और नाड़ियों से भरी रहती है। इसको **नेत्राच्छादिनी झिल्ली** (Conjunctiva) कहते हैं। यह झिल्ली बाहर की ओर पलक की खाल से मिली रहती है और पलक के भीतरी किनारे पर से होती हुई यही आँख के गोले के ऊपर चली जाती है। यही झिल्ली है जो आँख आ जाने पर सूज जाती है। उस समय इसमें भरी हुई ख़ून की रगें फूल जाती हैं जिससे आँखें लाल दिखाई देने लगती हैं।

अश्रु-गुत्थियाँ और आँसू

नेत्राच्छादिनी झिल्ली के लिए भीगा रहना आवश्यक है। यह झिल्ली कुछ तो अपने ही मल से और कुछ उस खारे पानी से भीगी रहती है जो आँसुओं की गुत्थियों से निकलता है। अश्रु-गुत्थियाँ, अक्ष-घेरों के ऊपरी ओर, नेत्र-गोलकों के बाहर चर्बीदार तत्त्वों में होती हैं। इन गुत्थियों में रक्त से एक स्वच्छ खारी जल बनता है, जो सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा ऊपरी पलक के भीतरी किनारे पर आ निकलता है और आँख के गोले पर बहकर उसे साफ़ रखता है। यह जल पलक के भीतरी कोने में नाक की तरफ़ इकट्ठा हो जाता है। इस जगह ऊपर और नीचे के दोनों पलकों में एक सूराख़ रहता है, जिससे यह पानी भीतर-ही-भीतर अश्रु-प्रणाली द्वारा नाक में जा पहुँचता है। साधारणतः यह पानी इतना ही बनता है कि पलकों और आँख के गोलों को तर रक्खे और उन्हें धूल-गर्द से साफ़ रक्खे। इसलिए जब आँखों का कोई काम किया जाय तब पलक जल्दी-जल्दी मारते रहना चाहिए जिससे कि पानी गुत्थियों से निकलकर आँख भर में फैलता रहे और उन्हें गीला रक्खे। जब कभी आँसू अधिक बनते हैं या जब आँख में सूजन आने से अश्रु-नलिकाएँ बन्द हो जाती हैं तब नाक में न जाकर आँसू गालों पर टपकने लगते हैं।

अश्रु-गुत्थियों में पानी का बनना नाड़ी-संस्थान के अधीन है। जब कोई धूलिकण या तिनका आँख में पड़ जाता है तो उसकी करकन से संविदनिक स्नायु प्रभावित हो जाते हैं और उसकी संवेदना मस्तिष्क तक पहुँच जाती है। वहाँ से नाड़ी द्वारा गुत्थी के लिए हुक्म आता है और वह तेज़ी से जल बनाने लगती है। इस क्रिया से धूलिकण या तिनका पानी में बहकर निकल जाता है। जब हृदय को कोई भारी दुःख होता है या अत्यन्त हर्ष होता है तब भी वही नाड़ीकेन्द्र उत्तेजित हो जाता है और आँसू तेज़ी से बहने लगते हैं। यही हमारे रोने का कारण है। गहरा रंज या अधिक ख़ुशी होने पर भी कुछ लोगों की आँखों में पानी नहीं आता, बल्कि इसके विपरीत उनकी आँखें उस समय और भी सूख जाती हैं; क्योंकि उन पर उल्टा प्रभाव पड़ता है और नाड़ी-प्रभाव गुत्थी के कार्य को रोक देता है। यह बात भी वैसी ही है, जैसे कि डर में किसी का तो चेहरा एकदम लाल हो जाता है और किसी का पीला पड़ जाता है। अचानक विपत्ति आने पर या कोई शोक-समाचार सुनने पर कोई व्यक्ति फूट-फूट कर रोने लगता है और कोई बिलकुल चुप हो जाता है।

अक्ष या नेत्र-गोलक के भिन्न-भिन्न भाग

अक्ष एक प्रकार का गोल कैमरा या कोष्ठ है, जिसका व्यास लगभग १ इंच होता है। किन्तु नेत्र-गोलक गेंद के समान बिलकुल गोल नहीं होता। अगला भाग कुछ उभरा हुआ होता है जैसा कि १४७२ पृष्ठ का चित्र देखने से साफ़ पता चलता है। इस उभरे हुए पारदर्शक भाग को छोड़कर शेष सब गोला खोपड़ी के अन्दर अक्ष-घेरे में घुसा हुआ रहता है। अक्ष-घेरे के चारों ओर खोपड़ी की हड्डी उभरी रहने के कारण आँख हर तरह की चोटों से बची रहती है। सामने की ओर पलक, बरौनी और भौंहें उसकी रक्षा करती हैं। माथे के पसीने को भौंहें आँखों में नहीं जाने देतीं, बल्कि बाहर की ओर गिरा देती हैं। बिजली की तेज़ चमक या और कोई ऐसा ही खटका होने से पलक बन्द हो जाते हैं और आँखों को कोई हानि नहीं पहुँचने पाती। अक्ष की दीवार में तीन तहें होती हैं। सबसे बाहरी पर्त कड़ी, चीमड़ और रेशेदार होती है, जो गोलाई को स्थिर रखती है और भीतरी भागों की रक्षा करती है। यही तह है जो आँख में सामने सफ़ेद नज़र आती है। सामने के उभरे हुए पारदर्शक भाग को छोड़कर बाक़ी जगह में वह पारदर्शक नहीं होती। इस

बाहरी तह को हम **'श्वेत पटल'** और उसके सामनेवाली पारदर्शक खिड़की को **'कनिका'** के नाम से पुकारते हैं। ऊपर हम बतला चुके हैं कि श्वेत पटल के सामनेवाले भाग और कनिका नेत्राच्छादिनी झिल्ली से ढके रहते हैं; किन्तु यह झिल्ली कनिका के ऊपर बहुत ही पतली और पारदर्शक होती है। कनिका के लिए बिलकुल पारदर्शक और रंग-विहीन होना ज़रूरी है, इसलिए कनिका में रक्त-नलिकाएँ बिलकुल ही नहीं होतीं।

श्वेत पटल के अन्दर उससे चिपटी हुई दूसरी काली भूरी झिल्ली होती है। इसमें ख़ून की पतली-पतली नलिकाओं का घना जाल बिंधा होता है और बीच-बीच में रंग देनेवाले कोष रहते हैं, जिनकी वजह से यह तह काली नज़र आती है। इस पटल का काम आँख की कोठरी को अन्धकारमय बनाए रखना है, जिससे कि अन्दर आनेवाले प्रकाश द्वारा उसमें चमक पैदा न हो। सामने की ओर यह तह जो **'मध्य पटल'** कहलाती है, लगभग उस जगह समाप्त हो जाती है, जहाँ श्वेत पटल कनिका से मिलता है। इसके छोर पर उभरी हुई मांसपेशियाँ होती हैं, जिन्हें **रोम-पेशी** (Ciliary Muscle) कहा जाता है। ये पेशियाँ श्वेत-पटल और कनिका के मिलने के स्थान से निकलकर पीछे की ओर जाती हैं और मध्य पटल के सामने-वाले छोर से मिली रहती हैं। कनिका की गोल खिड़की के पीछे एक घटने-बढ़नेवाला घेरेदार पर्दा है, जो आँख में सामने नज़र आता है। इसका रंग भिन्न-भिन्न जातियों में अलग-अलग होता है—किसी में काला, किसी में नीला और किसी में भूरा। यह पर्दा मध्य पटल का ही एक भाग है और **'उपतारा'** कहलाता है। इसके बीचोबीच एक गोल छेद होता है, जो **'पुतली'** या **'तारा'** के नाम से पुकारा जाता है। देखने में यह शून्य काला स्थान-सा मालूम होता है। उपतारे का बाहरी किनारा नेत्र-गोलक में उस जगह मज़बूती से जुड़ा रहता है, जहाँ श्वेत पटल और कनिका मिलते हैं। दूसरा किनारा पर्दे की भाँति कनिका से कुछ पीछे आँख के गोले के भीतर लटकता रहता है। उपतारे में दो प्रकार की रेशेदार मांस-पेशियाँ होती हैं। एक वे जो पुतली के चारों ओर गोलाई में रहती हैं और जिनके सिकुड़ने से पुतली छोटी हो जाती है। दूसरी वे जो बीच से निकलकर पहिए के आरे की तरह बाहर को फैली रहती हैं और जिनके सिकुड़ने से पुतली फैल जाती है। उपतारा के तन्तुओं में रंग के कोष होते हैं और उसका पीछे का भाग मध्य पटल की भाँति प्रकाशहीन होता है।
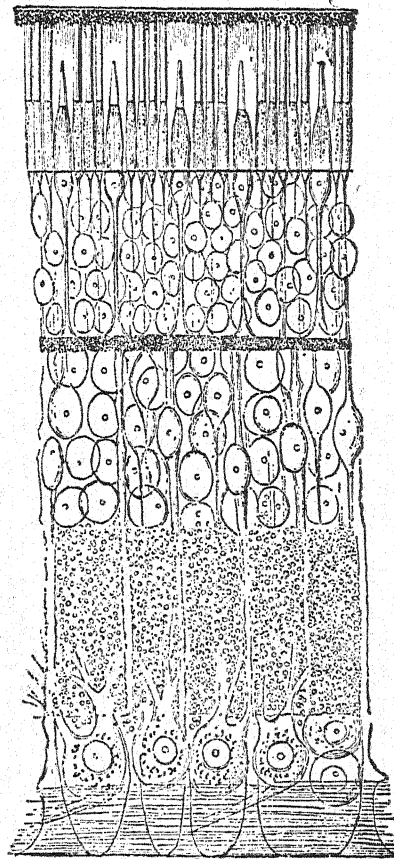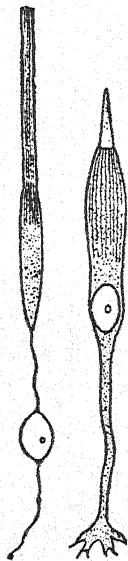
अन्तरीय पटल की मोटाई से काटा गया एक महीन पर्त सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखने से ऐसा दिखलाई पड़ता है। बग़ल में पूरे छड़-कोष और सूची-कोष भी बने हुए हैं। सबसे ऊपर की ओर रंग के दानों से भरे कोष दिखलाई पड़ते हैं। ये मध्य पटल से सटे रहते हैं। इनके नीचे छड़ों और सूचियों की तह है। सबसे नीचे नाड़ी-कोष और उनके केन्द्रों का पर्त है जो ताल की ओर रहता है। अन्तरीय पटल पर जो प्रतिबिम्ब बनता है वह $\frac{1}{8}$ सेकेंड तक बना रहता है।

उपतारा से आँख या अक्ष का भीतरी स्थान दो भागों में विभक्त हो जाता है और उसके पीछे रोम-पेशियों से लगा हुआ एक पारदर्शक गोल **'ताल'** (lens) होता है। यह ताल आतशी शीशे की तरह दोनों ओर उभरा हुआ होता है और तन्दुरुस्ती की हालत में नितान्त स्वच्छ और पूर्ण पारदर्शक रहता है। मोतियाबिन्द के रोग में यह ताल धुँधला हो जाता है, जिससे दृष्टि क्षीण हो जाती है। ऑपरेशन करके ताल को निकाल देते हैं और उसकी जगह एक मोटा चश्मा लगा देते हैं जो ताल का

काम देता है। यह ताल आँख की भीतरी दीवाल से एक कड़ी और चीमड़ पट्टी द्वारा बँधा रहता है, जिससे वह अपनी जगह से हिल-डुल न सके। ताल लचीला होता है और उसको यह पट्टी उसे अपनी जगह पर स्थिर ही नहीं रखती, बल्कि उसका आकार भी बदल सकती है। रोम-पेशियाँ ताल-पट्टी से लगी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती है तो मध्य पटल आगे की ओर बढ़ जाता है और ताल का बाहरी उभार अधिक हो जाता है। उपतारा और ताल के सामनेवाले भीतरी भाग को अगला कोष्ठ कहते हैं और उसके पीछेवाला बड़ा भाग पिछला कोष्ठ कहलाता है। अगले कोष्ठ में स्वच्छ और निर्मल पानी की तरह कुछ खारी पदार्थ भरा रहता है जिसे हम **'जलीय रस'** कहते हैं। पीछे के कोष्ठ में एक गाढ़ा लसीला स्वच्छ अर्द्ध-तरल द्रव्य भरा होता है जो रंग-विहीन और पारदर्शक होता है। इसको **'स्वच्छ द्रव्य'** कहते हैं। यह ताल को पीछे से साधे रहता है। जलीय रस, ताल और स्वच्छ जल मिलकर आँख के भीतर एक ऐसा माध्यम बनाते हैं जिससे बाहर से घुसनेवाले प्रकाश की किरणें तिरछी होकर आँख के भीतरी पर्दे पर केन्द्रीभूत होती हैं। ऐसा होने के ही कारण हम अच्छी तरह देख सकते हैं।

नेत्र-गोलक का सबसे भीतरी या तीसरा पर्त **'अन्तरीय पटल या दृष्टि-पटल'** (Retina) कहलाता है। ताल को छोड़कर यह पटल सारे पिछले कोष्ठ में फैला हुआ है (दे० १४७२ का चित्र)। यह पर्त एक बहुत पतली, नर्म और सफ़ेद झिल्ली है जो मध्य पटल के साथ हल्के से लगी रहती है। यदि भेड़ या बकरी की ताज़ी आँख लेकर उसमें से स्वच्छ द्रव्य दबाकर निकाल दिया जाय तो अन्तरीय पटल काले मध्य-पटल से सहज में ही बिलकुल अलग हो जाता है, किन्तु एक जगह पर, जहाँ दृष्टि-स्नायु आँख के गोले में प्रवेश करता है, वह अलग नहीं हो पाता। दृष्टि-स्नायु मस्तिष्क से आकर पीछे की तरफ़ से आँख के गोले की दीवाल को पार करता हुआ अपने रेशों को अन्तरीय पटल में फैला देता है। इन नाड़ी-सूत्रों ही के कारण अन्तरीय पटल फ़ोटोग्राफ़ी की प्लेट की भाँति प्रकाश से सचेत होता है।

रंग कैसे दिखलाई पड़ते हैं?

यद्यपि अन्तरीय पटल अत्यन्त नाज़ुक वस्तु है, परन्तु उसकी बनावट बड़ी ही पेचीदा है। इंच का $\frac{1}{80}$ वाँ भाग मोटा होने पर भी उसमें १० से भी अधिक पर्त होते हैं। अन्तरीय पटल की मोटाई से कटे हुए एक टुकड़े का एक दृश्य पिछले पृष्ठ के चित्र में दिखाया गया है, जैसा कि वह सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में दिखलाई पड़ता है। मध्य पटल की सबसे निकटवाली तह में गहरे रंग से भरे हुए षट्कोण कोष होते हैं। इनके कारण प्रकाश इधर-उधर फैल नहीं पाता। इसके पश्चात् विशेष कोषों की एक तह होती है, जिसमें दो प्रकार के अपूर्व कोष होते हैं जो पिछले पृष्ठ के चित्र में बने हुए हैं। यह छड़ और सूचियों की तह विशेष उल्लेखनीय है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही जीवित कोष हैं। उनके केन्द्र अन्तरीय पटल की भीतरी सतह पर दबे रहते हैं। दृष्टि-स्नायु के फैले हुए छोरों और बहुत-से नाड़ी-कोषों से उनका घना मेल रहता है; मानों वे हमारे मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र से कोषीय ज़ंजीर के द्वारा मिले हों। प्रत्येक छड़ के बाहरी हिस्से में छोटी-छोटी टिकियों का एक ढेर होता है, जिसमें दृष्टि-सम्बन्धी बैंजनी रंग के दाने-से भरे रहते हैं। फ़ोटोग्राफ़ी के प्लेट पर लगे हुए मसाले की झिल्ली (Film) की तरह ये टिकियाँ प्रकाश के लिए अत्यन्त चैतन्य होती हैं, विशेषकर नीली और बैंजनी किरणों के लिए। रोशनी पड़ने पर इन छड़ों के रंगदार दाने तेज़ी से बदलकर पहले पीले और बाद में सफ़ेद हो जाते हैं। रोशनी की तेज़ी का ज्ञान भी हमको इन्हीं छड़ों द्वारा होता है। कहा जाता है कि इन छड़ों के ही द्वारा हम धीमी रोशनी में भी देख पाते हैं। लेकिन उनसे हमको रंगों की पहचान नहीं हो पाती। रंगों का ज्ञान हमको सूचियों से होता है। जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, सूची की शक्ल भिन्न-भिन्न होती है और उनका बाहरी सिरा क़रीब-क़रीब रंग-विहीन होता है। छड़ और सूचियाँ दोनों ही के सहयोग से हम चीज़ों को देखते हैं और उनके रंगों को पहचानते हैं।

छड़ सूचियों की अपेक्षा प्रकाश के लिए अधिक चैतन्य होते हैं। मामूली रोशनी में दृष्टि-सम्बन्धी संवेदना सूचियों से ही चैतन्य होती है। छड़ें तो साधारण प्रकाश से भी थकी हुई बेकार-सी पड़ी रहती हैं, क्योंकि ऊपर कहने के अनुसार उनका बैंजनी रंग धुलकर सफ़ेद हो जाता है। लेकिन कुछ मिनट ही आँख को तेज़ रोशनी से बचाये रहने पर छड़ों में फिर अपनी उत्तेजना वापस आ जाती है। यही कारण है कि जब हम धूप से किसी हलके प्रकाशवाले कमरे में या बिजली की तेज़ रोशनी द्वारा प्रकाशित कमरे से निकलकर बाहर धीमी रोशनी में आते हैं तो पहले-पहल बहुत ही कम या कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उतनी धीमी रोशनी में सूचियाँ देख नहीं पातीं और छड़ें थककर बेकार हो जाती हैं। कुछ मिनटों के ही बाद छड़ें अपनी चेतना को पुनः प्राप्त कर लेती हैं और हमको चीज़ों की शक्लें दिख-

लाई पड़ने लगती हैं, और छाया तथा प्रकाश में अन्तर मालूम होने लगता है। किन्तु हम रंग नहीं देख पाते, क्योंकि छड़ें हमको केवल भूरे रंग की ही संवेदना दे पाती हैं और सो भी थोड़ी दूर से। ये बातें अत्यन्त रोचक हैं।

रंगों के अन्धे कौन हैं ?

शायद आप यह जानते हों कि प्रकाश या सफ़ेद रोशनी इन्द्रधनुष के सात रंगों के सम्मिश्रण से बनती है। जहाँ तक नेत्रों का सम्बन्ध है, सब रंग बँटकर केवल मुख्य तीन ही—लाल, हरे और बैंजनी—रह जाते हैं। इसलिए माना जाता है कि अन्तरीय पटल में तीन प्रकार की सूचियाँ हैं। कुछ लाल रंग से प्रभावित होती हैं, कुछ हरे से और कुछ बैंजनी से। इन तीन रंगों में से कोई दो या तीन के उत्तेजित हो जाने से ही अन्य रंग बन जाते हैं। हरित और बैंजनी वर्ण-ग्रहणकारी छड़ें यदि एक साथ उत्तेजित हो जाती हैं तो नीले रंग का बोध होता है। कुछ लोगों का मत है कि तीन के बजाय चार मूल रंग हैं, अर्थात् लाल, हरा, पीला और नीला। दो ही प्रकार की रंग ग्रहण करनेवाली छड़ें होती हैं। एक वे जो लाल और हरे दोनों विरोधी रंगों से सचेतन होती हैं और दूसरी वे जो पीले और नीले से सचेतन होती हैं। दोनों में से चाहे कोई-सा भी सिद्धान्त ठीक हो, यह तो निश्चय है कि रंगों के पहचानने की योग्यता अन्तरीय पटल में विशेष वर्ण-ग्रहणकारी छड़ों की उपस्थिति पर ही निर्भर है। यदि किसी की आँख में वर्ण-ग्रहणकारियों का एक सेट न हो तो उस रंग के दिखाई देने की सम्भावना न रहेगी। यह बात केवल थोड़े-से ही लोगों में पाई जाती है, किन्तु स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होती है और यह ख़राबी मौरूसी होती है। इसी को हम रंगों का अंधापन कहते हैं। कुछ लोगों को रंगों की पहचान बिलकुल ही नहीं होती। वे रंग के विषय में पूरे अंधे कहे जाते हैं। रंग के पूर्ण अंधे होने की ख़राबी बहुत ही कम लोगों में पाई जाती है। एक १२ वर्ष के लड़के का हाल सन् १९३६ में स्कॉटलैंड के दो डाक्टरों ने 'लैन्सेट' अख़बार में छापा था। उसको रंगीन किरण-चित्र (Spectrum) में कोई भी रंग नहीं जान पड़ता था, प्रत्युत् रोशनी में सिर्फ़ चढ़ाव-उतार ही मालूम होता था। यद्यपि उसको रंग का कुछ भी अन्दाज़ नहीं था, किन्तु उसको छाया की बड़ी तेज़ पहचान थी। वह रंगों की पहचान उनकी हल्की और तेज़ चमक से कर लेता था। गहरे लाल रंग उसको भूरे नज़र आते थे और बहुत गहरे लाल रंग का काले से धोखा हो जाता था। बहुत हल्के हरे और पीले रंगों को वह सफ़ेद ही कहता था।

कोई मनुष्य किसी-किसी रंग के ही लिए अंधे होते हैं, अधिकतर लाल और नीले के लिए। जो लोग लाल रंग के लिए अंधे होते हैं, उन्हें लाल चीज़ें भूरी-सी दिखाई पड़ती हैं। इस ख़राबी का कोई इलाज नहीं है। कभी-कभी सूचियों के रहते हुए भी यह बीमारी अन्य दोषों के कारण भी हो जाती है।

इस चित्र को देखकर अपनी आँख के अन्ध बिन्दु का पता लगाइए। बाईं आँख को बन्द करके दाहिनी से + चिह्न को टकटकी लगाकर देखिए। तस्वीर आँख से १० इंच या १ फ़ुट दूर रहे। तस्वीर को और पास लाइए या और दूर रखिए। ऐसा करने से एक जगह ऐसी आएगी जब आपको गोला बिलकुल ही न दिखाई देगा, क्योंकि उस स्थान पर गोले की प्रतिमूर्त्ति आपके अन्ध बिन्दु पर पड़ती है।

आँख के दो विचित्र स्थान—एक जहाँ से सबसे साफ़ दिखाई पड़ता है और दूसरा जहाँ से बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता

छड़ों की संख्या सूचियों की संख्या से कहीं अधिक होती है, लेकिन अन्तरीय पटल के बीच में पीछे की ओर एक जगह (दृष्टि-स्नायु के प्रवेश-स्थान से $\frac{१}{१०}$ इंच हटकर) ऐसी है जहाँ छड़ें क़रीब-क़रीब बिलकुल ही नहीं होतीं और सूचियाँ बहुत पास-पास और अधिक संख्या में होती हैं। इस अंडाकार स्थान में अन्तरीय पटल की अन्य सब तहें बहुत महीन होती हैं। अतः इस स्थान पर दृष्टि सबसे ज़्यादा तेज़ होती है। इस जगह को **'पीला बिन्दु'** कहते हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद वह पीला पड़ जाता है। यह पीला बिन्दु मनुष्य, कपि, और बन्दरों में ही पाया जाता है। हम किसी चीज़ को बिलकुल साफ़-साफ़ तभी देख पाते हैं जब उसका प्रतिबिम्ब इसी बिन्दु पर केन्द्रीभूत होता है। इसका परिणाम यह होता है कि और सब जानवर—गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि—उसी सफ़ाई से नहीं देख सकते होंगे जैसी कि मानव-जाति और उसकी निकट सम्बन्धी वानर-जाति। अन्तरीय पटल

में एक स्थान और उल्लेखनीय है। यह स्थान पीत बिन्दु के बिलकुल विपरीत है, क्योंकि यहाँ प्रकाश का तनिक भी प्रभाव नहीं होता। हो भी तो कैसे! क्योंकि यहाँ पर दोनों में से किसी तरह के भी चैतन्य-कोष नहीं होते। इस स्थान को 'अन्ध बिन्दु' या धब्बा कहा जाता है और पृ० १४७२ के चित्र के अनुसार वह उस जगह होता है जहाँ पर दृष्टि-स्नायु नेत्र-गोलक में प्रवेश करता है। इस जगह अन्तरीय पटल के तत्त्व नदारद होते हैं।

साधारण अवस्था में एक आँख का अन्ध बिन्दु दूसरी आँख के देखनेवाले भाग से ढक जाता है, इसलिए उसका हमें पता नहीं चलता। लेकिन पिछले पृष्ठ के चित्र में दी हुई परीक्षा से आप स्वयं ही पता लगा सकते हैं कि आपकी आँख में भी एक अन्ध बिन्दु है। कहीं लिखा है कि इंगलैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को यह परीक्षा इतनी भा गई थी कि वह दरबारियों को सामने बैठाकर इस रीति से उनके सिर उड़ाकर अपना जी बहलाया करता था!

चश्मेद्वारा दृष्टि-दोष कैसे दूर होता है?

(१) साधारण स्वस्थ आँख जिसमें दूर की वस्तु की परछाँहीं ठीक दृष्टि-पटल पर पड़ती है। (२) आँख का ताल अधिक उन्नतोदर है जिससे परछाँहीं दृष्टि-पटल के आगे पड़ जाती है। नतोदर ताल का चश्मा उसे पुनः ठीक कर देता है। (३) ताल बहुत चपटा और (४) नेत्र-गोलक बहुत छोटा है। (६) नेत्रगोलक बहुत लम्बा है। (५) और (७) से विदित होता है कि ये दोष कैसे चश्मे के ताल द्वारा ठीक होते हैं।

आँख कैसे काम करती है?

आँख की रचना का जो हाल हम ऊपर लिख आए हैं उससे साफ़ पता चलता है कि बहुत-कुछ वह तस्वीर खींचनेवाले कैमरे के समान है। जिस प्रकार कैमरे का प्रधान कार्य प्रकाश की किरणों को पीछे लगाई हुई प्लेट पर इस प्रकार केन्द्रीभूत करना है कि तस्वीर की छाया साफ़ उस पर उतर आए, उसी तरह आँख का मुख्य कार्य यह है कि बाहर की वस्तुओं की छाया अन्तरीय पटल पर इस प्रकार फेंके कि उसकी सचेतन तह उन वस्तुओं की छाया से प्लेट के सदृश प्रभावित हो जाय। इतना ही नहीं, जिस प्रकार प्लेट पर तस्वीर उल्टी आती है, उसी तरह अन्तरीय पटल पर ताल द्वारा पड़नेवाली छाया भी उल्टी ही होती है। **फिर भी हम चीज़ों को सीधा ही देखते हैं! कैसे?** प्लेट से जब तस्वीर काग़ज़ पर उतारी जाती है तो वह सीधी होती है, उल्टी नहीं। इसी तरह जब अन्तरीय पटल पर पड़ा हुआ प्रभाव नाड़ीसूत्रों द्वारा हमारे मस्तिष्क के पर्दे पर पहुँचता है तो छाया फिर सीधी हो जाती है और हम वस्तुओं को सीधा-का-सीधा ही देखते हैं। वास्तव में देखनेवाली चीज़ आँख नहीं, बल्कि मस्तिष्क है। आँख तो बाहर की चीज़ों के चित्र को मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र तक पहुँचाने का एक साधन मात्र है। जिस तरह कैमरे के अन्दर ज्योति केवल ताल में ही होकर जा सकती है वैसे ही नेत्र-गोलक भी ठोस दीवालवाली एक कोठरी है जिसमें रोशनी का प्रवेश सिर्फ़ सामने की पारदर्शक कनिका से ही हो सकता है। कैमरे की तरह आँख में भी एक काली तह (मध्य पटल) होती है जिससे रोशनी का परावर्त्तन न हो सके। कैमरे के डायाफ्राम की जगह आँख में रोशनी को घटाने और बढ़ाने के लिए उपतारा होता है। अँधेरे कमरे में धीमी रोशनी में उपतारा खुलकर चौड़ा हो जाता है, जिससे कि अधिक-से-अधिक रोशनी भीतर घुस जाय। जब रोशनी बहुत तेज़ होती है तो यह पर्दा बन्द हो जाता है और छेद नन्हा-सा रह जाता है। इस तरह उपतारा के छोटे और बड़े होने से प्रकाश उचित मात्रा में ही अन्दर जाने पाता है। कैमरे में एक धुँकनी होती है, जिससे फ़ोटो खींचनेवाला ताल को आगे या पीछे हटा सकता है और तस्वीर की प्रतिमूर्त्ति को फिर ठीक प्लेट पर गिरा लेता है। आँख के कैमरे में यह बात नहीं है।

उसमें तो ताल और अन्तरीय पटल दोनों ही स्थायी हैं। इसलिए नज़दीक और दूर की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब ठीक अन्तरीय पटल पर डालने के लिए आँख की यन्त्र-रचना कैमरे से भी पेचीदा है। ताल के काम में सहायता देने के लिए आँख में कनिका, जलीय रस और स्वच्छ द्रव्य हैं। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, आँख के ताल की शक्ल बदली जा सकती है। जब हम किसी दूर की चीज़ पर निगाह डालते हैं तो जो रोशनी की किरणें हमारी आँख के समानान्तर पड़ती हैं वे कनिका, जलीय रस, ताल तथा स्वच्छ द्रव्य की सहायता से तिरछी होकर अन्तरीय पटल पर केन्द्रीभूत हो जाती हैं और हम उस चीज़ को देख लेते हैं। अगर चीज़ आँख के निकट आ जाय और ताल जैसा-का-तैसा ही बना रहे तो छाया उसी स्थान पर न पड़ेगी बल्कि नेत्र-गोलक की दीवाल के पीछे पहुँच जायगी और हमें साफ़ दिखाई न पड़ेगा। छाया को अन्तरीय पटल पर ही डालने के लिए इन तीन में से एक बात का होना आवश्यक है—या तो पटल पीछे हट जाय, या ताल आगे बढ़े, या कोई ऐसी तरकीब हो जिससे ताल के केन्द्रीभूत करने की शक्ति बढ़ जाय और किरणें अधिक टेढ़ी होकर ठीक पर्दे पर आ पड़ें। पहली दो बातें तो आँख में हो ही नहीं सकतीं, किन्तु ताल का उभार बढ़ सकता है, जैसा ऊपर हम बतला चुके हैं। इस तरह उसके उभार को घटा और बढ़ाकर **हम दूर और पास की चीज़ ठीक ठीक देख सकते हैं।**

नेत्र-गोलक को घुमाने-फिरानेवाली मांस-पेशियाँ
आँख को ऊपर, नीचे, इधर, उधर मोड़ने के लिए चार सीधी मांस-पेशियाँ होती हैं, जो गोले के बाहरी ओर से खोपड़ी की हड्डी में लगी रहती हैं। दो तिरछी मांस-पेशियाँ होती हैं जिनसे आँख इधर-उधर घूमती है। कटावदार रेखाओं से पेशियों की ओर संकेत किया गया है।

दिखाई पड़नेवाली वस्तुएँ आँखों से भिन्न-भिन्न दूरी पर रहती हैं। हम सदा दृष्टि बदलते रहते हैं। कभी पास की चीज़ कभी दूर की, कभी और भी दूर की और फिर फ़ौरन पास की चीज़ पर हम निगाह डालते हैं तथा ताल और अन्तरीय पटल के बीच की दूरी एक-सी रहते हुए भी निकट और दूर की वस्तुओं को एक-सा देखते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न दूरी की चीज़ों को देखने के लिए आँख के ताल को अपनी मोटाई बदलनी पड़ती है। इस शक्ति को 'संयोजक शक्ति' कहते हैं। साधारणतः मनुष्य की आँख दूर की चीज़ देखने के लिए केन्द्रीभूत की हुई है। अतः दूर की वस्तुओं को देखने के लिए उसको संयोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती, लेकिन जब २० फ़ीट से कम दूर की वस्तुओं को देखना पड़ता है तो हमें रोम-पेशियों को सिकोड़कर ताल का उन्नतोदरत्व बढ़ाना पड़ता है। रोम-पेशियों के सिकुड़ने से मध्य पटल आगे की ओर खिंचता है और उससे लगे हुए ताल का बन्धन ढीला पड़ जाता है, जिसके कारण ताल आगे की ओर और भी उभर आता है। जितने ही पास की चीज़ देखी जाती है उतना ही रोम-पेशियों को सिकुड़ना पड़ता है और ताल का पीछेवाला बन्धन ढीला पड़ता है, जिससे वह आवश्यकतानुसार आगे को उभर आए। यही कारण है कि बहुत नज़दीक से लिखने और पढ़ने में आँखों पर बहुत ज़ोर पड़ता है, जिससे वे कमज़ोर हो जाती हैं। इतना ही नहीं, आँख का प्रयोग लगातार नज़दीक की ही चीज़ों पर करने से तथा रोम-पेशियों के लगावों पर बराबर खिंचाव पड़ने से सारे नेत्र-गोलक का आकार परिवर्तित हो जाता है। उसकी लम्बाई पीछे से आगे को बढ़ जाती है और आँख नज़दीक की ही वस्तुओं को देखने के अधिक योग्य हो जाती है। तब हमें दूर की चीज़ों को देखने के लिए चश्मा लगाना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति ने हमारी आँखें कमरों में ही बन्द रहने और सदा किताबें पढ़ते रहने के लिए नहीं बनाई हैं, बल्कि खुले मैदानों में रहने तथा दूर की चीज़ों—आसमान, चाँद, सितारों—को ही देखने के योग्य वे बनाई गई हैं। नज़दीक की चीज़ें देखने में आँखों पर ज़ोर पड़ता है और दूर की चीज़ें देखने से उन्हें आराम मिलता है।

दृष्टि-दोष

साधारण आँख में दूर की चीज़ों की छाया ठीक अन्तरीय पटल पर पड़ती है, लेकिन नेत्र-गोलक, ताल और कनिका ऐसी शक्ल और डील के हो सकते हैं कि परछाँही ठीक अन्तरीय पटल पर न पड़े। इस तरह की तीन ख़रा-

त्रियाँ आँख में पाई जाती हैं। कुछ लोगों की आँख का गोला आवश्यकता से अधिक लम्बा या ताल अधिक उन्नतोदर होता है। उस दशा में केन्द्रीभूत करनेवाली पेशियों के ढीली पड़ने पर दूर की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब अन्तरीय पटल अथवा दृष्टि-पटल से आगे पड़ जाता है। अतः ऐसे आदमियों को दूर की चीज़ें धुँधली नज़र आती हैं। आँख में इसका कोई इलाज नहीं है, किन्तु ऐसे लोग नज़दीक की चीज़ों को केन्द्रीभूत करनेवाली पेशियों को सिकोड़कर अच्छी तरह देख सकते हैं। यह रोग **निकट-दृष्टि दोष** कहलाता है। आँख के सामने एक उचित नतोदर ताल का चश्मा लगाने से आगे पड़नेवाली छाया फिर पीछे हटकर अन्तरीय पटल पर पहुँच जाती है तथा दूर की ठीक चीज़ दिखाई देने लगती है (देखिए १४७८ पृष्ठ के चित्र में नं० २।)

कुछ लोगों की आँख की गोलाई बहुत छोटी होती है और पुट्ठे ढीले रहते हैं। प्रकाश की किरणें केन्द्रीभूत होने के पूर्व ही दृष्टि-पटल पर टकरा जाती हैं, इसलिए प्रतिमूर्ति साफ़ नहीं दिखाई पड़ती। केन्द्रीभूत करनेवाली पेशियों के संकोच से प्रतिबिम्ब हटाकर दृष्टि-पटल पर डाला जा सकता है। ऐसे लोगों को दूर की चीज़ को देखने में तो अधिक कठिनाई नहीं होती है, लेकिन नज़दीक की चीज़ों को देखने के लिए उनकी पेशियों को साधारण लोगों के मुक़ाबले में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। रोग की वृद्धि होने पर नज़दीक की चीज़ों को वे साफ़ नहीं देख पाते। थोड़ी देर पढ़ने, लिखने या सीने से ही आँख में थकावट आ जाती है और वे दुखने भी लगती हैं। वे प्रायः लाल हो जाती हैं और उनसे पानी बहने लगता है। यह **दूर-दृष्टि दोष** के नाम से प्रसिद्ध है और अधिकतर जन्म ही से होता है। इसका पता सहज में नहीं चलता, किन्तु काम करते और पढ़ते समय आँख का जल्दी थक जाना, माथे और भौंहों पर झुर्रियाँ पड़ना ही इसके कुछ लक्षण हैं। यह दोष भी उन्नतोदर ताल के चश्मे द्वारा बहुत कुछ ठीक हो जाता है (दे० १४७८ पृष्ठ के चित्र में नं० ४)।

४०-४५ वर्ष की अवस्था होने पर आँखें धीरे-धीरे दूर-दृष्टि या समीप-दृष्टिवाली हो जाती हैं। जो लोग युवावस्था में निकट-दृष्टीय होते हैं और चश्मा लगाते रहते हैं, ४०-४५ वर्ष की अवस्था के होने पर उनकी आँख दूर-दृष्टीय होने लगती है और इस प्रकार उनकी आँख अपनी साधारण अवस्था पर आ जाती है और चश्मा छूट जाता है। लड़कों और जवानों में दूर-दृष्टि का रोग अधिक होता है और वृद्धों में समीप-दृष्टि का।

आँख और मस्तिष्क सम्बन्धी दृष्टि-मार्ग
इससे पता चलता है कि दोनों आँखों की निगाह एक सी कैसे हो जाती है।

कुछ लोगों की आँख में कनिका या अन्य केन्द्रीभूत करनेवाले माध्यमों के घुमाव की गड़बड़ी से छाया के भिन्न-भिन्न भाग एक साथ केन्द्रीभूत नहीं होते। ऐसी अवस्था में आँख को छाये के भिन्न-भिन्न भागों को केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु उसका ऐसा होना असम्भव होता है। इसलिए इस क्रिया से आँख पर बहुत ज़ोर पड़ता है। जिन लोगों की एक या दोनों आँखों में यह दोष होता है, उनको चारख़ानेदार काग़ज़ या कपड़ा, रेखागणित के चित्र, लकीरदार नमूने आदि देखने में बड़ा कष्ट होता है। यह रोग **दृष्टि-वैषम्य** कहलाता है तथा पेचीदा ताल के द्वारा ही ठीक हो सकता है।

कभी-कभी उन आदमियों में, जो बर्फ़ के मैदानों में या बर्फ़ीले पहाड़ों पर बिना आँखों पर पर्दा डाले या अँधेरा चश्मा लगाये काम करते रहते हैं, अन्तरीय पटल तेज़ चमक पड़ते-पड़ते मुथरा हो जाता है। इसकी वजह से उन्हें बर्फ़ पर दिखलाई नहीं पड़ता। यही **'बर्फ़ का अंधापन'** कहा जाता है। इसी प्रकार उष्ण कटिबन्ध के

मल्लाहों को, जिन्हें जहाज़ों की छत पर चंद्रमा की पूर्ण ज्योति में सोना पड़ता है, कभी-कभी **'चाँदनी का अंधापन'** हो जाता है। कहा जाता है कि **रतौंधी** में भी किसी अत्यन्त तेज़ खुजली या खँरोचन की वजह से दृष्टि-पटल की सचेतनता में अन्तर आ जाता है। आँख पर बहुत समय तक लगातार तेज़ रोशनी का पड़ना तथा नाड़ी-संस्थान का निर्बल हो जाना भी उसके कारण हैं।

दो आँखें होते हुए भी चीज़ एक ही क्यों दिखाई देती है?

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो दोनों ही आँखों से देखते हैं, लेकिन फिर भी वस्तु एक ही दिखाई देती है। यह प्रश्न उठता है कि दोनों आँखों में जो दो अलग-अलग प्रतिबिम्ब बनते हैं वे मस्तिष्क में जाकर एक ही कैसे हो जाते हैं। इसके कई कारण हैं। प्रत्येक अक्ष बाहर से ६ मांस-पेशियों द्वारा वश में रक्खा जाता है। इनमें से चार सीधी और दो तिरछी होती हैं। सीधी पेशियों में से एक ऊपर, एक नीचे और एक-एक दोनों ओर बग़ल में होती हैं। इनके संकोच से आँख का गोलक ऊपर, नीचे, भीतर और बाहर की ओर घूमता है। तिरछी पेशियाँ (दे० पृ० १४७९ का चित्र) मुड़ी रहती हैं और जब वे सिकुड़ती हैं तो नेत्र-गोलक इधर-उधर उनकी ओर तिरछा घूम जाता है। ये पेशियाँ एक दूसरे के साथ मिलकर और कभी अलग-अलग नेत्र-गोलकों को प्रत्येक दिशा में घूमने में सहायता देती हैं। उन्हीं के कारण आँख सुविधापूर्वक घूम जाती है। अतः जब हम कोई चीज़ देखते हैं तो दोनों आँखोंकी दृष्टि एक ही सीध में पड़ती है और उसकी प्रतिमूर्त्ति दोनों आँखों के अन्तरीय पटल पर एक समान बनती है। दोनों आँखों की पेशियाँ एक साथ—क़ायदे के अनुसार—काम करती हैं, जिससे दोनों के दृष्टि-पटलों में एक ही तरह संगति-भाग पर ही परछाहीं पड़ती है और वस्तु साफ़
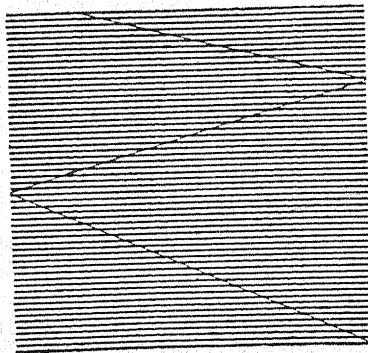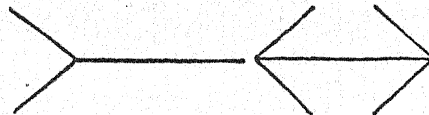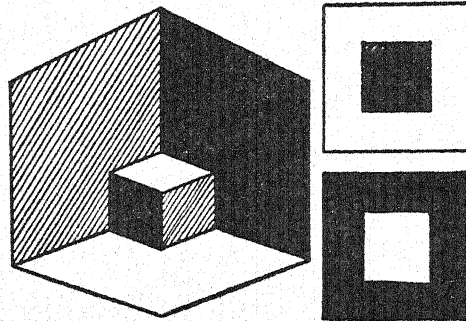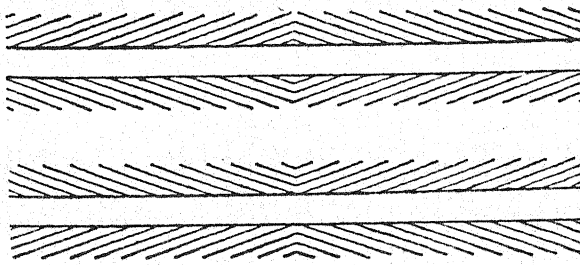
इन चित्रों को देखिए कि आपके नेत्र और दृष्टि-केन्द्र आपको किस प्रकार धोखा देते हैं। सबसे ऊपर की दोनों रेखाएँ समानान्तर है, किन्तु क्या आपको एक में दोनों रेखाओं के बीच का अन्तर बीच में कम और किनारों की ओर अधिक नहीं जान पड़ता और दूसरी में इसका उलटा? बीच के षट्कोण को घुमा-फिराकर देखने से नई-नई बातें दिखती हैं। कभी ठोस चीज़ का एक कोना कटा हुआ प्रतीत होता है, कभी लगता है कि दो पर्दों के बीच में एक छोटा चौकोर टुकड़ा रक्खा हुआ है, कभी जान पड़ता है कि बड़े चौकोर टुकड़े के कोने में एक छोटा टुकड़ा लगा हुआ है। दाहिनी ओर बीच में काले और सफ़ेद समचतुर्भुज बराबर होते हुए भी छोटे-बड़े लगते हैं। उसके नीचे दोनों सीधी रेखाएँ बराबर हैं, लेकिन बाईं बड़ी और दाहिनी छोटी दिखलाई दे रही है। सबसे नीचे समानान्तर रेखाओं को काटनेवाली तिरछी रेखा को क्या आप लहरदार के बजाय सीधी मानेंगे?

साफ़ तथा एक ही दिखलाई पड़ती है। अपनी आँख को एक उँगली से एक ओर को दबाकर किसी चीज़ को देखिए। वह चीज़ या सभी वस्तुएँ, जिन पर आपकी दृष्टि जायगी, दोहरी दिखलाई देंगी। उँगली हटा लेने पर फिर एक की एक ही नज़र आने लगेगी। कुछ लोगों की दोनों आँखों की पेशियों की लम्बाई, स्थान और बल में इतना अन्तर आ जाता है कि वे दोनों आँखों को एक साथ किसी चीज़ पर नहीं डाल सकते। आँख में भौंड़ापन इसी कारण से होता है। कुछ लोगों में एक आँख जन्म से ही हटी रहती है और उन्हें चीज़ें दोहरी दिखलाई देती हैं। कभी-कभी आँख-सम्बन्धी किसी पेशी को लकवा मार जाने से भी यह बात हो जाती है।

दूसरी रीति जो हमें दोनों आँखों की दृष्टि एक ही करने में सहायता करती है दृष्टि-स्नायु के नाड़ी-सूत्रों का एक अनूठा प्रबन्ध है। आँखों से मस्तिष्क के रास्ते में दोनों दृष्टि-स्नायु एक जगह एक-दूसरे से मिल जाते हैं और इस जगह दाहिनी आँख के कुछ सूत्र पार करके मस्तिष्क के बायीं ओर और बायीं आँख के दाहिनी ओर चले जाते हैं। ऐसा प्रबन्ध रहता है कि प्रत्येक आँख के दाहिने आधे सूत्र मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र के दाहिने आधे भाग में जाते हैं और बायें आधे सूत्र दृष्टि-केन्द्र की बाईं ओर। इसलिए मस्तिष्क के दोनों बग़ल दो भाग में प्रतिबिम्ब पड़ता है और चूँकि प्रतिबिम्ब बिल्कुल एक-साँ होते हैं, इसलिए दृष्टि में कोई भी गड़बड़ी नहीं होने पाती। दो आँखों से देखे जाने के कारण ही वस्तु का आकार-प्रकार और उसके ठोस होने का ठीक अनुमान हमको होता है। दोनों आँखों पर पड़नेवाली छाया बिलकुल एक-सी ही नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक आँख वस्तु को किसी क़दर भिन्न दृष्टिकोण से देखती है। इन दोनों परछाईयों की—जो नाममात्र के लिए एक-दूसरे से विभिन्नता रखती हैं—हमको साथ-साथ चेतना होती है। परिणाम यह होता है कि हमारे ऊपर एक विशेष प्रभाव पड़ता है, जिससे पदार्थ की ऊँचाई-नीचाई और ठोसपन का बोध होता है।

चीज़ों की दूरी, आकार-प्रकार, ऊँचाई-नीचाई का अन्दाज़ करने की शक्ति मनुष्य में धीरे-धीरे अनुभव से ही आती है। निस्सन्देह हमको इन सब बातों का अन्दाज़ लगाना सीखने से ही आता है। यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी इन विषयों पर हम कभी-कभी बिलकुल पक्का निश्चय नहीं कर पाते। हमें अक्सर ही आँख का धोखा हो जाता है। पिछले पृष्ठ पर दिए गए चित्र में देखिए कि आपकी आँख आपको किस प्रकार धोखा देती है! उक्त चित्र में सबसे ऊपर अंकित रेखाएँ समानान्तर हैं, किंतु क्या आपको वे रेखाएँ असमानान्तर नहीं जान पड़तीं? यह क्यों? क्या यह हमारा दृष्टि-भ्रम ही नहीं है? इसी प्रकार के और भी विभिन्न प्रकार के दृष्टिभ्रम हमें नित्य प्रति होते रहते हैं। वास्तव में इस प्रकार का दृष्टिभ्रम हमारी आँखों की किसी प्रकार की ख़राबी को सूचित नहीं करता, बल्कि उस विडम्बना के ही कारण ऐसा होता है जो किसी विशेष परिस्थिति में किसी वस्तु को देखने से हमें हो सकती है। एक जन्म से अन्धे, मोतियाबिन्द के रोगी के विषय में लिखा है कि जब एक डाक्टर ने चीरा लगाकर उसकी दृष्टि ठीक कर दी तो उसको ऐसा प्रतीत होता था कि जो चीज़ वह देख रहा है वह उसकी आँखों से छू जाती है। धीरे-धीरे उसकी अन्य ज्ञानेन्द्रियों ने उसके इस भ्रम को दूर कर दिया। जब उसने अपना हाथ बढ़ाया तो विदित हुआ कि वह पदार्थ उससे दूर है और उसको उस तक पहुँचने के लिए वहाँ तक चलना पड़ेगा, इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार उसने अपनी अन्य ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य रीतियों से चीज़ों की दूरी का आँख से अन्दाज़ लगाना धीरे-धीरे सीख लिया।

आँखों का महत्त्व और उनको स्वस्थ रखने की आवश्यकता

क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि नेत्रों की सुकुमार रचना का ख़्याल रखते हुए तथा यह जानते हुए कि दृष्टि में तनिक-सी भी त्रुटि आ जाने पर हमारे कार्यों में कैसी बाधा पड़ती है, जनता इस अमूल्य अवयव की रक्षा के विषय में कैसी लापरवाह है! सभी को अपनी आँखों को चोट से बचाने, उन पर ज़ोर न पड़ने देने और उनको बीमारियों से बचाने का सदा ध्यान रखना चाहिए। बाल्यावस्था से ही आँखों की सफ़ाई और उनका उचित उपयोग का ध्यान रहना चाहिए। बच्चों की आँखों पर तेज़ रोशनी न पड़नी चाहिए और उन्हें देर तक आग या चमकदार चीज़ें भी न देखने देना चाहिए। पढ़नेवाले बच्चों के लिए यह आवश्यक है कि वे बहुत तेज़ या मंद रोशनी में न पढ़ें। उनके लिए लेटकर तथा चलती हुई सवारी में भी पढ़ना हानिकारक है। सीने-पिरोने या पढ़ने में बराबर पलक मारते रहना चाहिए, जिससे आँख को आराम मिलता रहे। पढ़ने या सीने की चीज़ आँखों से डेढ़ फ़ुट दूर रखना चाहिए और रोशनी का प्रबन्ध ऐसा हो कि वह ऊपर बाईं ओर से आकर काग़ज़ या कपड़े पर पड़े।

बैंक और बैंक-प्रणाली का विकास

सिक्के के इतिहास के सम्बन्ध में 'बैंक' नाम की संस्था का परिचय दिया गया था। बैंक द्वारा ही सिक्के के चलन में सुविधा तथा कम ख़र्च होने की युक्ति की गई है। बैंक का काग़ज़ी सिक्का, जिसे नोट कहते हैं, तथा बैंक की साख पर निर्भर व्यक्ति द्वारा संचालित पत्र, जिसे चेक तथा हुण्डी कहते हैं, हमारे व्यापारिक संसार में बड़ी महत्त्वपूर्ण चीज़ें हैं। इस लेख में बैंकों के विकास तथा आज की आर्थिक व्यवस्था में उनके महत्त्वपूर्ण स्थान की कहानी हम सुनाने जा रहे हैं।

आर्थिक उन्नति के आदिकाल में मनुष्य आज-जैसा दूरदर्शी नहीं था। प्रति दिन भोजन की तलाश में जाना और पेट भर भोजन पाने पर सन्तुष्ट होकर विश्राम करना ही उसके आर्थिक जीवन का ध्येय था। दिन प्रतिदिन पर्याप्त भोजन मिलने की अनिश्चितता ने मनुष्य को बचे हुए भोजन का संचय करने का पाठ पढ़ाया। इसके साथ ही मनुष्य ने भोजन प्राप्त करने में शरीर के अतिरिक्त औज़ारों से सहायता लेना भी प्रारम्भ किया। भोजन बचाकर रखने और औज़ारों से सहायता लेने में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। भोजन तब ही बचाया जा सकता है जब वह आवश्यकता से अधिक हो। प्रकृति द्वारा प्राप्त शरीर से साधारण परिश्रम द्वारा बड़ी मात्रा में भोजन एकत्रित नहीं हो पाता था। उदाहरण के लिए, केवल दौड़कर हाथ से पशुओं को पकड़कर बन्दी करने से बहुत कम संख्या में पशु पकड़े जा सकते हैं। इसके विपरीत धनुष-बाण द्वारा अथवा बन्दूक़ द्वारा कितने ही पशु एक दिन में मारे जा सकते हैं। खेती के उद्यम में हाथ अथवा नाख़ून से पृथ्वी खोदना दुष्कर था। इसके लिए हल से काम लेना पड़ा। कुछ समय तक तो मनुष्य को अपने काम के औज़ार स्वयं बनाने पड़े, परन्तु बहुत शीघ्र ही समाज की व्यवस्था ऐसी बनी कि पृथक्-पृथक् मनुष्य-समूहों ने विशेष वस्तुएँ बनाने में निपुणता प्राप्त की और पदार्थ-विनिमय के द्वारा औज़ार तथा सामग्री की बदली होने लगी। इसका वर्णन विस्तारपूर्वक पिछले लेखों में दिया जा चुका है। क्रमशः पदार्थ-विनिमय की प्रथा का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया। पिछले लेख में इसी कहानी का वर्णन किया गया था। इस अवस्था में मनुष्य भोजन तथा सामग्री का संचय करने के बजाय धन एकत्रित करने लगे, जिसके द्वारा किसी भविष्यकाल में वे भोजन अथवा कोई भी वाञ्छित पदार्थ मोल ले सकते थे, और इस प्रकार संचित धन उन मनुष्यों अथवा उनके परिवार की निजी सम्पत्ति समझा जाने लगा।

धन संचय करने के बाद संचित धन की रक्षा का प्रश्न उठा। दूसरे मनुष्य संचित धन छीन न लें, इसलिए उसकी रक्षा का प्रबन्ध आवश्यक हुआ। आज-जैसी जटिल तथा दृढ़ राष्ट्र-शक्ति का उन दिनों में अभाव था। छोटे-छोटे राज्य, मनुष्यों के संगठित समूह अथवा बलवान् तथा प्रभावशाली पुरुष ही शान्तिस्थापन, सम्पत्तिरक्षा तथा नियमित सामाजिक जीवन के स्तम्भ थे। छोटे-छोटे गाँवों में चिर संचित थोड़ा-थोड़ा धन या तो मनुष्य पृथ्वी माता की गोद में छिपा देते थे, जिससे चोर तथा डाकू को उसका पता न चले, या गाँव के बलवान् तथा विश्वासपात्र सज्जन के पास धरोहर-स्वरूप रख देते थे। बड़े-बड़े शहरों से दूर गाँवों में आज भी यह प्रथा ठीक पुराने समय-जैसी ही पाई जाती है। धरोहर रखनेवाले व्यक्ति पर उसकी रक्षा का भार होता था और उसे महाजन, साहूकार इत्यादि के नाम से पुकारते थे। इस रक्षा-भार के उपलक्ष में महाजन को धरोहर की मात्रा का एक अंश पुरस्कार-स्वरूप दिया जाता था। बहुत पुराने काल में महाजन प्रत्येक व्यक्ति के धन को रखने के लिए एक मिट्टी का बर्तन (घड़ा) तथा कोई विशेष पात्र बना लेता था। आया हुआ धन उसी में रखता और उसी से निकालकर आवश्यकता पड़ने पर उसे वापस कर देता था। सारा व्यापार केवल विश्वास और महाजन की

धर्मपरायणता पर ही निर्भर था। न लिखा-पढ़ी थी और न विशेष हिसाब-किताब। इस प्रकार प्रत्येक गाँव में एक-एक दो-दो व्यक्ति ऐसे हो गए थे, जिनके पास बाक़ी लोग अपना धन रख देते थे। महाजनगण अथवा महाजनवर्ग की उत्पत्ति का यही श्रीगणेश है। इस प्रकार के कार्य को 'महाजनी' के नाम से पुकारा गया। क्रमशः इस वर्ग का विकास हुआ और महाजनी परिवार बनने लगे, जिनका कार्य केवल धरोहर रखना और धन-सम्पत्ति का लेन-देन था। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर महाजन निजी सम्पत्ति से लोगों को धन उधार भी दे देते थे, और उसके बदले में वे सूद लेते थे जिसे धन के उधार देने का किराया कह सकते हैं। इस प्रकार मनुष्यों में एक वर्ग ऐसा बना, जिसकी जीविका धरोहर की रक्षा द्वारा प्राप्त पुरस्कार पर निर्भर थी। कहीं-कहीं कई परिवारों का जीवन इसी कार्य पर निर्भर था और ऐसी दशा में उन परिवारों में रुपया रखने में प्रतिद्वन्द्विता के भाव का उदय हुआ। प्रत्येक परिवार अधिक-से-अधिक धन रखने की चेष्टा करने लगा। धन आकर्षित करने के लिए उन्होंने धरोहर रखानेवालों को प्रलोभन देना प्रारम्भ किया। पहले तो इस प्रलोभन का रूप धरोहर रखने के पुरस्कार की कमी तक ही सीमित रहा। परन्तु प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने पर धरोहर रखने के पुरस्कार की जगह महाजनों ने धरोहर रखानेवालों को कुछ धन देने का भी प्रलोभन देना शुरू किया। इस प्रकार धरोहर की रक़म पर सूद देने की प्रथा प्रारम्भ हुई, जो आज तक प्रचलित है। धरोहर रखने में महाजन की साख तथा मान-मर्यादा विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि इनका धरोहर के सुरक्षित रहने से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए बड़े-बड़े महाजनों को धरोहर का रुपया कम सूद पर अथवा बिना सूद के ही मिल जाता था। यही कारण है कि आज भी बैंकों के सूद के दर भिन्न-भिन्न हैं। बड़े-बड़े बैंकों में बिना सूद के भी काफ़ी रुपया जमा होता है और छोटे अथवा नये बैंक अधिक सूद देने पर भी उतना धन नहीं आकर्षित कर पाते। सूद देने की प्रथा के बाद यह आवश्यक हुआ कि महाजन इस धरोहर के धन से इतना अधिक रुपया पैदा कर ले कि वह धरोहरवाले को निश्चित सूद देने के बाद भी कुछ निजी लाभ पा सके। इस प्रकार महाजनों ने धरोहर के रुपए को सुरक्षित स्थान में रखने की अपेक्षा व्यापार में लगाना आरम्भ किया और इस प्रकार लगाये हुए धन से सूद देकर निजी आय का सम्बन्ध स्थापित किया। कहीं तो महाजन स्वयं व्यापार करते थे, जैसा कि आजकल भी भारतवर्ष के ग्रामों में पाया जाता है। यहाँ ग्राम का व्यापारी रुपए का लेन-देन, वाणिज्य-व्यापार तथा धरोहर का काम करता है। लेकिन बहुत-से महाजनों ने व्यापार स्वयं न करके अन्य व्यापारियों तथा व्यक्तियों को धन उधार देने का कार्य किया और इस उधार दिए हुए धन पर उनसे उनकी साख तथा धन नष्ट होने के भय को ध्यान में रखते हुए सूद लेना निश्चय किया। इस प्रकार धरोहर लेना तथा उधार देना महाजनों का मुख्य कार्य हुआ। इसी कार्य को करनेवाली संस्थाएँ आज 'बैंक' कहलाती हैं। क्रमशः बैंकों ने व्यापार-वृद्धि के लिए अन्य प्रकार की सुविधाएँ देने की भी चेष्टा की।

धरोहर का रुपया उधार देने के सम्बन्ध में कुछ बातें विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। पहली यह कि धरोहर दो प्रकार की होती हैं—एक तो निश्चित काल के लिए और दूसरी अनिश्चित काल की। पहले प्रकार की धरोहर का रुपया धरोहर रखानेवाला केवल निश्चित समय के बाद ही और कुछ समय पूर्व सूचना देने पर भी वापस ले सकता है। इनको बैंक 'स्थिर धरोहर' (fixed deposit) कहते हैं। इन पर सूद का दर अधिक इसलिए होता है कि बैंक को इस धरोहर के फेरने की चिन्ता निश्चित काल के भीतर नहीं रहती और इस प्रकार यह रुपया उस समय तक के लिए किसी व्यापार में लगाया जा सकता है। दूसरी प्रकार की धरोहर अनिश्चित काल के लिए होती है। इसमें धरोहर का रुपया किसी समय भी बिना सूचना के निकाला जा सकता है। आजकल के नियमानुसार यदि कोई बैंक इस प्रकार की धरोहर का रुपया माँगने के समय न दे सके तो वह बैंक दिवालिया हो जाता है और फिर उसको अपना व्यापार स्थगित करना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि बैंक अथवा महाजन अपने पास इतना रुपया अवश्य रखे जिससे इस प्रकार की अनिश्चित धरोहर की माँग पूरी हो सके। इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की धरोहर का केवल एक भाग ही व्यापार में लगाया जा सकता है, जिससे धन पैदा हो सके। परन्तु सूद पूरी रक़म पर ही देना होता है। यही कारण है कि बैंक ऐसी रक़म पर जो 'चालू हिसाब' (current account) कहलाता है, या तो सूद देते ही नहीं और यदि देते हैं तो बहुत छोटी दर से। अनिश्चित काल की धरोहर की वापसी के लिए पर्याप्त धन की मात्रा का निश्चय करना बड़े निपुण महाजनों का कार्य है। आजकल के महाजनी व्यापार का आधार इसी पर है।

महाजनों ने इन धरोहरों के आधार पर एक और नये प्रकार का कार्य प्रारम्भ किया। धरोहर रखनेवालों को एक

स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की सुविधा भी बैंक तथा महाजनों ने दी। इसका ब्यौरा इस प्रकार है। पहले यदि किसी धरोहर रखनेवाले को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजना होता तो महाजन अपने किसी परिचित महाजन अथवा अपने सम्बन्धी को एक पत्र लिख देता कि वह उसकी ओर से निर्दिष्ट धन चिट्ठी ले जानेवाले को दे दे। इस चिट्ठी को धरोहर रखनेवाला दूसरे स्थान में इच्छित व्यक्ति को भेज देता और वह रुपया ले लेता था। इस सुविधा के प्रचलित होने के बाद बड़े-बड़े महाजन बेनामी पत्र भी लिखने लगे, जिसे कोई भी दूसरा महाजन, जिसे लिखनेवाले महाजन पर विश्वास हो, रुपया दे देता था। इन महाजनों का परस्पर हिसाब किसी निश्चित तिथि पर चुकता हो जाता था। इसको 'हुण्डी देना' कहते हैं। इसके ही आधार पर आजकल के बैंकों ने "नोट" चलाए, जिनके द्वारा धातु का रुपया कम होने पर भी केवल बैंक के विश्वास के आधार पर करोड़ों रुपए का लेन-देन केवल नोट द्वारा होता है। अगणित बैंकों द्वारा चलाए गए नोटों में भय होने से यह अच्छा समझा गया कि सर्वसम्मति से राष्ट्र अथवा देश का सबसे बड़ा बैंक ही नोट छापे और सरकारी घोषणा द्वारा उसे मानने के लिए जन-साधारण बाध्य किये जायँ। भारतवर्ष में यह काम बहुत समय तक राष्ट्र ने किया, परन्तु १९३५ से नोट छापने का काम 'रिज़र्व बैंक आफ़ इण्डिया' करता है।

बैंकों के विस्तार में एक महत्त्वपूर्ण बात और भी हुई कि कई महाजनों ने अपना रुपया मिलाकर सामूहिक रूप से महाजनी का कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रकार की संस्थाओं की साख व्यक्तिगत महाजनों से कहीं अधिक थी और इनके अधीनस्थ धन की मात्रा अधिक होने से ऐसी संस्थाएँ कम सूद पर रुपया जमा कर लेती थीं। कुछ काल के बाद महाजनों की और भी जटिल संस्थाएँ स्थापित हुईं, जो जन-साधारण से रुपया पूँजी के रूप में लेकर "सम्मिलित पूँजी" (Joint Stock) के आधार पर पूँजी संग्रह करने लगीं। इन्हें 'ज्वाइंट स्टॉक बैंक' कहते हैं। इस प्रकार एकत्रित किया हुआ धन भिन्न-भिन्न उद्योगों में लगाने से बैंकों के नाम उद्योगसूचक होने लगे, जैसे खेती का बैंक (Agricultural Bank), अर्थात् वह बैंक जो किसानों और ज़मींदारों को खेती के लिए रुपया उधार दे; औद्योगिक बैंक (Industrial Bank) जो उद्योग में संलग्न व्यापारियों को रुपया उधार दे और अन्य युक्तियों से उद्योग को सहायता दे। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन साधारण देश के अन्दर रुपया भेजने की अपेक्षा अधिक कठिन है और उसमें भिन्न-भिन्न देशों के सिक्के का पारस्परिक दर इत्यादि के प्रश्न उठ पड़ते हैं। इस प्रकार के व्यापार को 'अन्तर्राष्ट्रीय संकलन' (Foreign Exchange) कहते हैं और इस कार्य को करनेवाले बैंक संकलन बैंक (Exchange Bank) कहलाते हैं। इन विशेषताओं के साथ-साथ साधारण रुपया जमा करने और उधार देने का प्रमुख कार्य तो सब बैंक करते ही हैं।

किसी देश के निवासियों का चिरसंचित धन सुरक्षित रखने का कार्य करने से बैंकों का उत्तरदायित्व अन्य औद्योगिक संस्थाओं से कहीं अधिक है। बैंक के दिवालिया हो जाने से सहस्रों धरोहरवालों का सर्वनाश हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक हुआ कि राष्ट्र इन संस्थाओं के लिए नियम बनाये, जिससे अविश्वासपात्र व्यक्ति ऐसा कार्य न करने पाएँ और योग्यता की कमी से विश्वासपात्र व्यक्ति त्रुटि न करें। इन बातों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्र ने बैंक-संचालन के नियम बनाए हैं, जिनका उल्लंघन करने से दण्ड दिया जाता है। भारतवर्ष में भी वर्तमान नियमों के अतिरिक्त एक नया बैंक-विधान केन्द्रीय ऐसेम्बली में पेश है। इसके पूर्व १९३४ के 'रिज़र्व बैंक ऐक्ट' नाम के विधान में भी सर्वसाधारण बैंकों पर निषेध लगाये गए हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक बैंक को अपनी पूर्ण धरोहर का एक अंश रिज़र्व बैंक में रखना पड़ता है, जो एकाएक धरोहर की माँग होने के समय बैंक को दिवालिया होने से बचाता है। यह रिज़र्व बैंक अन्य बैंकों का बैंक है। जैसे व्यक्ति अपनी धरोहर किसी एक बैंक में धराते हैं, उसी प्रकार अन्य बैंक अपनी धरोहर रिज़र्व बैंक के पास रखाते हैं। यही रिज़र्व बैंक, अन्य बैंकों के पारस्परिक लेन-देन तथा हुण्डी, चेक इत्यादि के रुपये का ब्यौरा चुकाने के लिए 'ब्यौरा चुकान-गृह' (Cleaning House) का प्रबन्ध करता है; अन्य बैंकों के पालन के निमित्त नियम बनाना तथा आदेश देना भी इसी बैंक का कर्त्तव्य है। इस प्रकार की आयोजना को केन्द्रीय बैंकिङ्ग (Central Banking) कहते हैं। देश के बैंकों का निरीक्षण तथा संरक्षण केन्द्रीय बैंक के अधीन होता है।

केन्द्रीय बैंक का महत्व इसलिए और भी है कि वह अन्य बैंकों को रुपया उधार देता है। यह बतलाया जा चुका है कि बैंक धरोहर के रूप में जमा किया हुआ रुपया दूसरे व्यक्तियों को उधार दे देते हैं। इस प्रकार धरोहर के रुपये की जगह उनके पास क़र्ज़ा लेनेवालों के कर-

बन्धक-पत्र (Pronotes) इत्यादि आ जाते हैं। सुरक्षित क़र्ज़ में क़र्ज़ लेनेवाला अपनी सम्पत्ति को बैंक के अधीन बन्धक (Mortgage) कर देता है, जिसका तात्पर्य यह है कि यदि क़र्ज़दार अपना ऋण यथासमय न चुका सके तो बैंक उस सम्पत्ति को बेचकर अपना पैसा पूरा कर ले। व्यापारीगण व्यापारिक वस्तुओं अथवा उत्पादित पदार्थों (Manufactured Goods) के आधार पर ऋण लेते हैं। इन पत्रों का महत्व यह है कि बैंक को यदि स्वयं धन की आवश्यकता हो तो वह इन पत्रों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से रुपया उधार ले सकता है। इस प्रकार निजी धन से कहीं अधिक मात्रा में बैंक रुपए का लेन-देन कर सकता है। साधारणतया तो इस क्रम में कोई विशेषता नहीं, क्योंकि पर्याप्त धन होने से बैंक अथवा केन्द्रीय बैंक को रुपया उधार देने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होती। परन्तु प्रत्येक देश की व्यापारिक दुनिया में कई अवसर ऐसे आ जाते हैं जब मुद्रित धन से अधिक धन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में ऐसा अवसर शरद् ऋतु में आता है जब किसान को रुपये की आवश्यकता होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए भी धन की आवश्यकता होती है। ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक की अनुपस्थिति में रुपए की माँग अधिक और मुद्रित धन कम होने से बैंक के उधार देने के सूद-दर में वृद्धि होने का भय है। बैंक का सूद-दर बढ़ना व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति के लिए हानिकारक होता है, क्योंकि धन महँगा हो जाने से उत्पादित पदार्थ का मूल्य भी बढ़ जायगा। व्यापारी तो पदार्थ को पूर्ण ख़र्च निकालने के बाद कुछ लाभ पर ही बेचेगा। पदार्थ महँगे होने से व्यापार में शिथिलता होने का भय है। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक व्यापार-रक्षा के लिए निर्दिष्ट मात्रा में नये नोट छापता है, जिनका आधार धातु न होकर केवल व्यापारिक पत्र होते हैं। इस क्रम को हम इस प्रकार समझ सकते हैं। साधारण बैंकों ने अपना सञ्चित धन व्यापारियों को दे दिया और उसके बदले में उनके लिखित व्यापारिक ऋण-पत्र ले लिये। इन ऋणपत्रों को वे केन्द्रीय बैंक के पास भेजकर अपने निजी उत्तरदायित्व पर बैंक से निश्चित समय के लिए रुपया उधार ले लेते हैं। बैंक के पास यदि पर्याप्त मात्रा में मुद्रित धन न हुआ तो बैंक नये नोट छापकर दे देता है। इस प्रकार धातु के सिक्के और काग़ज़ का रुपया मिलाकर व्यापार का कार्य चल जाता है और पदार्थों का विनिमय-मूल्य बढ़ने नहीं पाता। पदार्थ का मूल्य बढ़ना देश की समस्त आर्थिक दशा पर प्रभाव डालता है। मज़दूर-वर्ग का रहन-सहन का ख़र्च बढ़ जाता है। बाहरी देशवाले महँगा माल मोल नहीं लेते। व्यापारी का व्यापार स्थगित होने लगता है। उत्पादन की तीव्रता घटानी पड़ती है। अन्य देश ऐसे समय में अपना बनाया हुआ माल बेचने को भेजते हैं, जो स्वदेशी माल से सस्ता पड़ जाता है। इस प्रकार देश के कल-कारख़ानों को हानि पहुँचती है। दूसरा परिणाम यह होता है कि अपने देश का माल बाहर न जाने से और दूसरे देशों का माल स्वदेश में अधिक मात्रा में आने से अपने देश का धन दूसरे देश को चला जाता है। पदार्थ-विनिमय की कमी को सोना-चाँदी देकर पूरा करना पड़ता है। बहुमूल्य धातुओं का समुचित कोष हल्का पड़ने से देश की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाती है। सारांश यह कि देश आर्थिक संकट की ओर गिरने लगता है। ऐसी दशा को बचाने के लिए केन्द्रीय बैंक नोट द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण रक्षा का कार्य करता है। इसको अँगरेज़ी में वस्तुमूल्य की स्थिरता (Stability of Price-level) बनाए रखना कहते हैं।

जिस प्रकार देश के भीतर सिक्के का विनिमय-मूल्य स्थिर रखना देश के भिन्न-भिन्न आर्थिक वर्गों के हित तथा देश की आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सिक्के का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य भी स्थिर रखना परमावश्यक है। देश के भीतर सिक्के का विनिमय-मूल्य घटने अथवा बढ़ने से पदार्थों का मूल्य भी बढ़ अथवा घट जाता है। पदार्थों के मूल्य का घटना-बढ़ना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भारी प्रभाव डालता है। यदि पदार्थ महँगे हो गए तो उनका निर्यात (export) स्वभावतः कम हो जायगा। यही नहीं, वरन् अन्य देशों का बना हुआ माल स्वदेशी पदार्थों की अपेक्षा बाज़ार में सस्ता हो जायगा और इसके फलस्वरूप आयात (import) की मात्रा बढ़ेगी। किसी देश के सिक्के का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य, राष्ट्र का विशेष हस्तक्षेप न होने पर अथवा यों कहिए कि केवल आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर, आयात-निर्यात के अधीनस्थ घटता-बढ़ता रहता है। यदि आयात निर्यात से अधिक है तो हमारे व्यापारियों को दूसरे देश के सिक्कों के ख़रीदने की अधिक आवश्यकता होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि हमें पूर्व विनिमय-दर से अधिक रुपए उसी निश्चित धन के लिए देना पड़ेंगे। इस प्रकार हमारे सिक्के का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-दर घट जाता है। इसके विपरीत देश में पदार्थ का मूल्य घटने से निर्यात बढ़ता है और इस प्रकार सिक्के की माँग अन्य देशों से ज़्यादा होने पर सिक्के

का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-दर बढ़ जाता है। केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात पर ध्यान रक्खे कि देश के पदार्थों का मूल्य, अन्तर्राष्ट्रीय सिक्के का विनिमय-दर इत्यादि की अस्थिरता इतनी न होने पाए कि देश के व्यापार को हानि हो। सिक्के के दर के बढ़ने से न केवल निर्यात ही घट जाता है, वरन् आयात-निर्यात के अन्तर को सोना इत्यादि बहुमूल्य धातुएँ भेजकर पूरा करना पड़ता है, जिसका सरल शब्दों में अर्थ यह है कि देश लाभ तथा परिश्रम के अतिरिक्त अपनी चिरसञ्चित पूँजी पर जीवित रह रहा है। ठीक ऐसी ही परिस्थिति भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास में १६३०—३५ के काल में आ गई थी, जब हमारे देश का लगभग ३०० करोड़ से अधिक रुपए का सोना विदेशों को भेजना पड़ा था। ऐसी अवस्था को रोकने के लिए बैंक अपने सूद-दर के घटाव तथा बढ़ाव से काम लेता है। जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि देश का सोना विदेशों को जा रहा है, तब बैंक अपना सूद-दर बढ़ा देता है, जिसका प्रभाव यह होता है कि देश में रुपया उधार लेना महँगा हो जाता है। कारण यह है कि अन्य बैंक, जिनसे व्यापारी रुपया उधार लेते हैं, इसी केन्द्रीय बैंक से उन व्यापारियों के हस्त-पत्र के आधार पर ऋण लेते हैं। इसलिए वे बैंक केन्द्रीय बैंक के सूद-दर से कम दर पर तो रुपया दे ही नहीं सकते। वास्तव में केन्द्रीय बैंक के सूद-दर के ऊपर अपना ख़र्च तथा लाभ-अंश जोड़ने के बाद ही अन्य बैंक व्यापारियों को रुपया उधार दे सकते हैं। इस प्रकार अन्य बैंकों का दर केन्द्रीय बैंक के सूद-दर से सदैव अधिक ही होता है। बैंक-सूद-दर बढ़ने से व्यापारी रुपया कम उधार लेते हैं, क्योंकि सूद-दर बढ़ने से और पदार्थ-मूल्य स्थिर रहने से उनके लाभ का अंश कम हो जाता है अथवा पदार्थ-मूल्य बढ़ाने से बिक्री कम हो जाती है। दोनों का अन्तिम परिणाम व्यापारी के लाभ का घटाव ही है। इस प्रकार सिक्के की संख्या बाज़ार में कम हो जाती है। यों भी कह सकते हैं कि रुपए का मूल्य बढ़ जाता है। अन्य शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थों का मूल्य घट जाता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि अन्य देशों से सोना देश में आने लगता है, क्योंकि सूद-दर ज़्यादा होने से धन पर लाभ अच्छा होता है। इस प्रकार इधर सोने का आयात बढ़ जाता है और उधर सिक्के का मूल्य बढ़ने से और पदार्थों का मूल्य घटने से पदार्थों का निर्यात बढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप भी देश में अधिक बहुमूल्य धातु आ जाती है। देश पुनः धनवान होने लगता है। स्वर्ण तथा चाँदी का संचय साधारण समय में तो इतना महत्वपूर्ण नहीं होता, लेकिन युद्ध-जैसे समय में किसी देश की आर्थिक परिस्थिति तथा साख केवल सञ्चित स्वर्ण के ढेर पर ही निर्भर है। इन्हीं कारणों से केन्द्रीय बैंक का सूद-दर महत्त्वपूर्ण होता है तथा देश के लिए जीवन-मरण की सत्ता रखता है।

सूद-दर को छोड़कर पदार्थों को महँगा तथा सस्ता करने के लिए केन्द्रीय बैंक एक युक्ति और काम में लाते हैं। वे राष्ट्र की तथा माननीय व्यापार-संस्थाओं की ऋण-हुण्डियों (securities) को खुले बाज़ार में बेचकर प्रचलित सिक्के तथा बैंक द्वारा मुद्रित नोट को बाज़ार से घसीटकर अपने कोष में रख लेते हैं। इससे प्रचलित सिक्के बाज़ार में कम हो जाते हैं और सिक्के का मूल्य बढ़ जाता है, अर्थात् पदार्थ सिक्के के विनिमय रूप में सस्ते हो जाते हैं। इसके विपरीत बैंक ऋण-हुण्डियाँ मोल लेकर प्रचलित सिक्के की मात्रा बढ़ा भी देता है, जिससे पदार्थ विनिमय रूप से महँगे हो जाते हैं। इस प्रकार के खुले बाज़ार में ऋण-हुण्डियाँ मोल लेने और बेचने को 'open market operations' कहते हैं। प्रचलित सिक्के बढ़ाने की नीति को मुद्राप्रसार (inflation) तथा घटाने को मुद्रासंकीर्णता (deflation) कहते हैं। प्रसार तथा संकीर्णता की नीति से देश के समस्त आर्थिक संगठन को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक की नीति की तीव्र आलोचना होती रहती है। बहुत-से देशों में तो केन्द्रीय बैंक पर राष्ट्र का पूर्ण अधिकार होता है अथवा बैंक राज्य का ही एक अंश होता है। इसमें किसी मनुष्य के व्यक्तिगत लाभ उठाने की मनादी रहती है। दूसरे देशों में केन्द्रीय बैंक में व्यक्ति अपने रुपया लगा सकते हैं, परन्तु उनके लाभ उठाने की मात्रा पर राष्ट्रीय रोक रहती है, जिसका अभिप्राय यह है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा जनसाधारण अथवा देश के अहित की नीति चलाकर व्यक्तिगत लाभ उठाने की चेष्टा सफलीभूत न हो सके। कुछ देशों में केन्द्रीय बैंकों पर व्यक्तिगत तथा राष्ट्र की कड़ी दृष्टि रहती है और राष्ट्र केन्द्रीय बैंक के लिए नियम बना देता है।

इतिहास के आरम्भकाल के धरोहरवाले महाजनों के विकास का यह विराट् रूप है, जिसकी सीमा यहाँ तक पहुँच गई है कि हमारा समस्त आर्थिक संगठन, जिस पर देश तथा व्यक्ति का जीवन निर्भर है, इन्हीं महाजनों के पुत्रपौत्रादि के, जो बढ़कर केन्द्रीय बैंक तक का रूप धारण करते हैं, अधीन है। यही महाजनी प्रथा की जीवन-कहानी है।
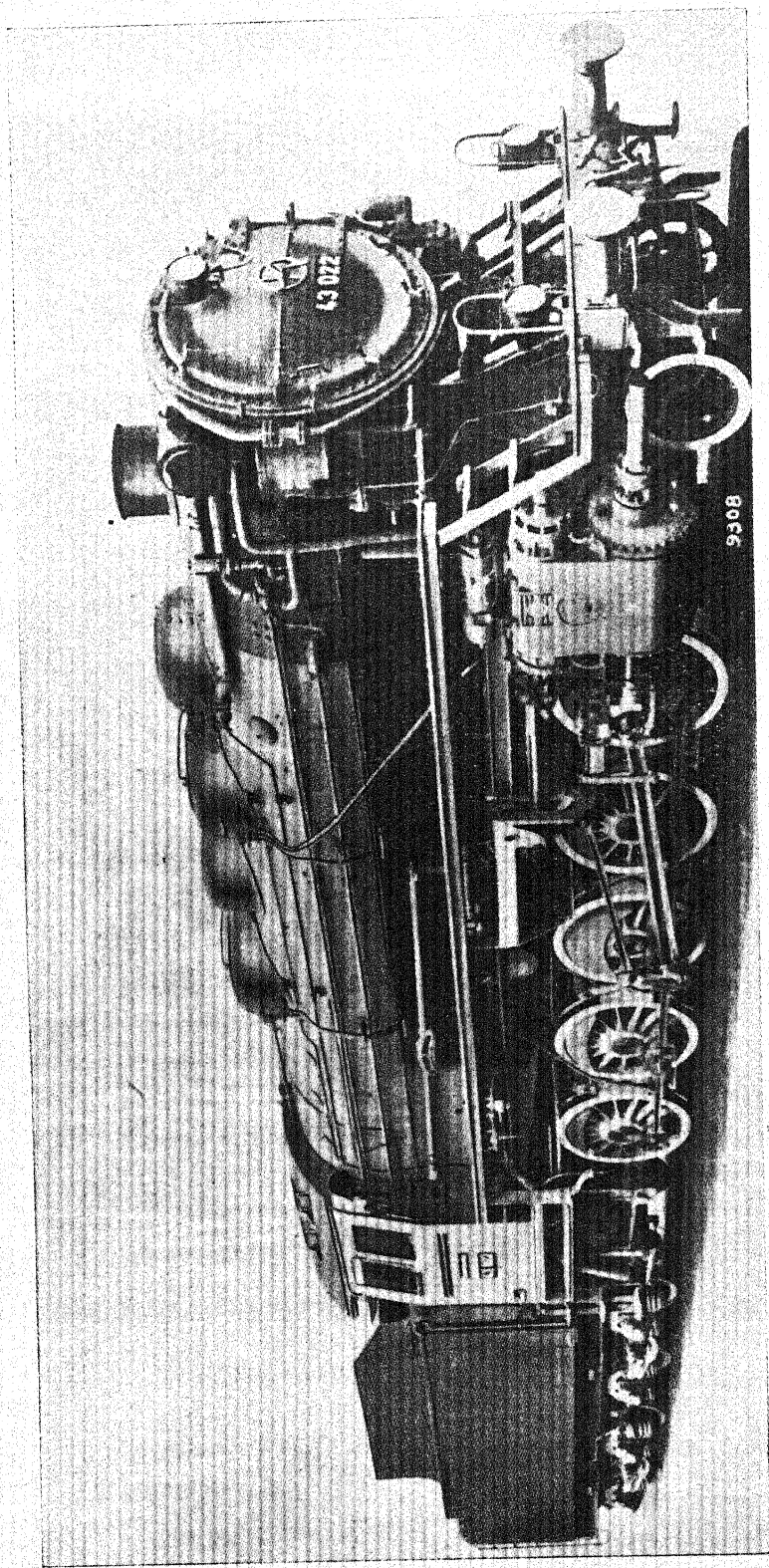
आज का एक भीमकाय रेल का इंजिन

इसमें ५ जोड़े चालक पहिए लगे हैं। रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और विभिन्न कल-पुर्जों की जानकारी के लिए देखिए पृष्ठ १४६२-१४६३ के मानचित्र।
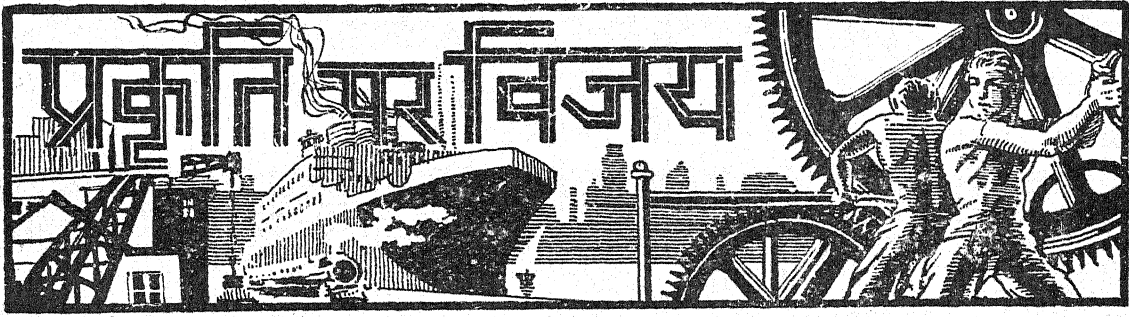
धरती पर विजय—(४) रेलवे का विकास

सड़कें, पुलें और सुरंगें बनाकर आज दिन पृथ्वी पर एक भाग से दूसरे भाग को जाने के लिए स्थल-मार्ग कितने सुगम बना लिये गए हैं, इसका हाल पिछले तीन प्रकरणों में आप जान चुके हैं। इन मार्गों पर यातायात के जो मुख्य दो वाहन सबसे अधिक काम में लाये जाते हैं वे हैं रेल और मोटरकार। दोनों का आज के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आइए, इस लेख में पहले रेलवे की ही कुछ बातें आपको बताएँ।

कच्ची सड़क पर इक्का या ताँगा हाँकने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। पक्की सड़क पर पहिए ज़मीन में नहीं धँसते, अतएव ऐसी सड़कों पर इक्के-ताँगे आदि तेज़ रफ़्तार से आ-जा सकते हैं। किन्तु पक्की सड़कों के निर्माण में तथा निरन्तर उनकी मरम्मत करते रहने में ख़र्च अधिक पड़ता है। इसी कारण जब कभी कम ख़र्च में मोटर, इक्के और ताँगे के लिए रेत और धूल से भरी सड़क पर रास्ता बनाना होता है तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक लगभग एक फ़ुट चौड़ी लोहे की चद्दरें सड़क पर दो समानान्तर रेखाओं में बिछा देते हैं—ताकि मोटर के पहिए रेत में न धँसकर लोहे की चद्दर पर ही चलें। इलाहाबाद में बरसात के बाद गंगा नदी पर प्रति वर्ष नावों का पुल तैयार किया जाता है। वहाँ पुल और रेती पर ऐसे ही लोहे की चद्दर के टुकड़े इस पार से उस पार तक बिछा दिये जाते हैं। ऐसा करने में ख़र्च भी कुछ अधिक नहीं बैठता।

इङ्गलैण्ड की खानों में लगभग १०० वर्ष पूर्व कोयला ढोनेवाली गाड़ियों के लिए एक कुशाग्र-बुद्धि व्यक्ति ने भी इसी प्रकार सड़कों पर लकड़ी के तख़्ते बिछाए थे—फिर तख़्ते के स्थान पर लोहे की मज़बूत चद्दरें बिछाई गईं। इन गाड़ियों को घोड़े खींचते थे, अतः गाड़ी के पहिए इन चौड़ी पटरियों से उतरकर नीचे धूल और कीचड़ में आ फँसते थे। इस दोष को दूर करने के लिए इन चद्दरों के दोनों किनारे ऊपर की ओर मुड़े हुए बनाए गए, ताकि पहिए चद्दरों पर से नीचे न उतर सकें।

कुछ काल पश्चात् यह तय हुआ कि चद्दरों की जगह लोहे की ठोस सपाट पटरियाँ बिछायी जायँ और गाड़ी के पहियों का एक हाशिया बढ़ा दिया जाय ताकि वे पटरियों पर से उतर न सकें। ऐसा करने से ख़र्च में और भी बचत हुई।

तदुपरान्त भाप के इंजिनों और रेलगाड़ियों के विकास के साथ संसार के भिन्न-भिन्न देशों में चारों ओर रेल की पटरियों का धीरे-धीरे एक जाल-सा बिछ गया। आज तो ऊँचे-ऊँचे अभेद्य पहाड़ों में से गुज़रती हुई हज़ारों मील लम्बी रेल की लाइनों ने धरती को जैसे बाँध रक्खा है। रेल की लाइन बिछाने में इञ्जीनियर को अनेक सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं। लाइन बिछाते समय इस बात का सदैव ध्यान रखना पड़ता है कि लाइन में कहीं पर चढ़ाव ज़्यादा न आ जाय, अन्यथा रेलगाड़ी को खींचने में इंजिन को अत्यधिक शक्ति व्यय करनी पड़ेगी। इसी कारण जगह-जगह पहाड़ों को काटकर उसमें से समतल रास्ता निकालना पड़ता है। मीलों लम्बी सुरंगें इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए काटनी पड़ती हैं। कभी-कभी जब लाइन को किसी गहरी घाटी से गुज़रना होता है तो समूची लाइन को ऊँचे खम्भों पर से ले जाते हैं, ताकि लाइन में गहरा ढाल न आने पाए। पहाड़ी प्रान्तों में लाइन बिछाने का ख़र्च इतना अधिक बैठ जाता है कि अक्सर देश के अन्य भागों की अपेक्षा इस प्रदेश में रेलभाड़े की दर ऊँची रखनी पड़ती है। कलकत्ते से हरद्वार तक रेल के भाड़े की जो दर है, उससे कहीं ऊँची दर हरद्वार से देहरादून तक की लाइन पर लागू है, क्योंकि हरद्वार से देहरादून तक रेल की लाइन पहाड़ों को काटकर बिछाई गई है।

निर्जन प्रान्त, रेगिस्तान, तथा दलदल आदि से भरे स्थानों में तो हथेली में जान लेकर इञ्जीनियरों और कारीगरों ने रेल की पटरियाँ बिछाई हैं। कनाडा के जंगली भागों में जब रेल की लाइन बिछाई जा रही थी तब अनेक बार रेड इण्डियन लोगों ने रेलवे इञ्जीनियरों और मज़दूरों पर हमला किया था, ताकि वे इस प्रान्त में रेल की लाइन बिछाने का प्रयत्न ही त्याग दें। दक्षिण अफ्रीका में नेटाल प्रान्त के दुर्गम और मलेरियाग्रस्त स्थानों में रेल की लाइनें बिछाने के पीछे सहस्रों भारतीय कुलियों को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं, और उनमें से सैकड़ों की तो जानें भी इसी प्रयत्न में गईं।

हम देख चुके हैं कि आरम्भ में भाप के इंजिन किस ढंग के बने थे। उन दिनों की रेलगाड़ियाँ भी कुछ कम बेढंगी न थीं। थर्ड क्लास के डिब्बों के ऊपर किसी प्रकार की छत न होती थी। मवेशी ढोनेवाली गाड़ियों की तरह ये डिब्बे एकदम खुले हुए होते। सेकण्ड क्लास के डिब्बों में भी बग़ल में कोई आड़ न थी; ऊपर मोटे कपड़े की एक छत अवश्य थी, जो तेज़ हवा के झोंके से कभी-कभी उखड़कर अलग भी जा गिरती। फ़र्स्ट क्लास की गाड़ियाँ चारों ओर से ढकी रहतीं थी। इनकी बेञ्चों पर गद्दियाँ भी बिछी थीं। मालगाड़ियों के तो और भी बुरे हाल थे—खुले ठेलों की तरह केवल एक मज़बूत फ़र्श इन गाड़ियों में होती थी। इसी पर रस्सियों से कसकर सामान बाँध दिया जाता था।

धीरे-धीरे रेलगाड़ियों की उपयोगिता जनता ने आँकी। जनता की ओर से रेल-कम्पनियों को प्रोत्साहन भी प्रचुर मात्रा में मिला। फलस्वरूप पैसेञ्जर और मालगाड़ियों के रूप में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। उन दिनों की रेलगाड़ियों के डिब्बों में प्रायः चार पहिये लगे होते थे। इन डिब्बों की लम्बाई भी बीस-पचीस फ़ीट से अधिक नहीं हुआ करती थी। फिर ये डिब्बे धीरे-धीरे और भी लम्बे बनाये जाने लगे। चार से छः पहिए, और फिर आठ पहियेवाले डिब्बे बनने लगे। लम्बे डिब्बों में अड़चन यह होती है कि तेज़ रफ़्तार में वे घुमाव पर आसानी से मुड़ नहीं सकते। इस मुश्किल को दूर करने के लिए बोगीवाले डिब्बे बनाये गये। लम्बे डिब्बे के दोनों सिरे चार-चार पहियोंवाली दो बोगियों पर टिके रहते हैं। प्रत्येक बोगी में एक लम्बवत् कीली के चारों ओर ये पहिये घूम सकते हैं। अतः लाइन के मोड़ पर बिना किसी अड़चन के बोगी के पहिये घूम जाते हैं। डिब्बे में बैठनेवालों को किसी प्रकार का झटका नहीं लगता। इन दिनों अब एक नये ढंग की बोगी का प्रयोग हो रहा है। तीन डिब्बों को चार बोगियों पर फ़िट करते हैं। प्रत्येक बोगी पर दो डिब्बों के सिरे आकर मिलते हैं। इस प्रकार रेलगाड़ी के कुल वज़न में भारी कमी हो जाती है, तथा गाड़ी की फ़िटिंग करने में ख़र्च भी कम बैठता है।

स्टीफेन्सन का सुप्रसिद्ध 'राकेट' नामक रेल का इंजिन, जो १८३० में बना था। आज के इंजिनों से तुलना कीजिए।

डिब्बों को एक-दूसरे से जोड़ने के लिए हमारे देश में अभी पुराना तरीक़ा ही काम में लाया जाता है। एक डिब्बा जब दूसरे डिब्बे को धक्का देता है तो डिब्बे के छोर पर लगे हुए हुक एक-दूसरे से गुँथ जाते हैं। फिर पैंटमैन ज़ंजीर से इन हुकों को ख़ूब जकड़ देता है, ताकि ये एक-दूसरे से अलग न हो जायँ। इस रीति से डिब्बों को जोड़ने में देर बहुत लगती है, साथ ही पैंटमैनों के लिए यह काम ख़तरनाक भी बहुत है। ज़रा-सी ग़फ़लत की कि जान से हाथ धोना पड़ा! योरप और अमेरिका में डिब्बों के सिरे पर अब इस ढंग के हुक फ़िट किये जाते हैं कि ज़रा-सा धक्का लगते ही ये एक-दूसरे से मज़बूती के साथ गुँथ जाते हैं। ज़ंजीर से इन्हें बाँधने की ज़रूरत नहीं होती। कमानी-दार 'बफ़र' भी डिब्बे के दोनों ओर लगे रहते हैं, अतः डिब्बों को जोड़ते समय कुछ अधिक झटका भी नहीं लगने पाता।

जाड़े के दिनों में डिब्बों को गर्म रखने के लिए योरप और अमेरिका की ट्रेनों में इंजिन से नली द्वारा डिब्बों में भाप पहुँचाई जाती है। भारत में इसी ढंग के कुछ डिब्बे बने हैं, जो 'एयर कन्डिशन्ड' हैं। बाहर जेठ की लू चल रही हो, किन्तु एयर कन्डिशन्ड डिब्बों के अन्दर शीतल वायु ही चलती रहती है। इस तरह के एयर कन्डिशन्ड डिब्बे अभी गिनती के दो-चार ही बन पाये हैं, किन्तु आशा की जाती है कि शीघ्र ही इनकी संख्या में भी काफ़ी वृद्धि हो जायगी।

एयर कन्डिशन्ड गाड़ियों के अन्दर स्वास्थ्य के अनुकूल किसी भी तापक्रम को सदैव एक-सा बनाये रखने का प्रबन्ध रहता है। साथ ही इन डिब्बों के अन्दर निरन्तर शुद्ध और साफ़ की हुई वायु भी पहुँचती रहती है। जाड़े के दिनों में यदि वायु शुष्क हुई तो उसमें एक नियत परिमाण में आर्द्रता का भी समावेश कर दिया जाता है, क्योंकि एकदम शुष्क हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। इन डिब्बों के अन्दर बाहर के शोर की आवाज़ भी नहीं पहुँच पाती। दूर-दूर तक की यात्रा करनेवाली रेल-गाड़ियों में सोने के लिए भी समुचित प्रबन्ध किया जाता है। जलपान और भोजन का प्रबन्ध करने के लिए ट्रेन में ही एक रेस्ट्राँकार भी जोड़ देते हैं। ५०-६० मील की रफ़्तार से ट्रेन भागती जा रही है और रेस्ट्राँकार में यात्रियों के भोजन की सामग्री नवीन वैज्ञानिक तरीक़ों से तैयार होती रहती है। चलती ट्रेन में डाइनिंगकार में बैठकर यात्री गर्म-गर्म ताज़ा भोजन करते हैं, मानों किसी फ़र्स्ट क्लास के होटल में बैठे खाना खा रहे हों।

रोशनी पैदा करने के लिए पहले तो गैस-लैम्प ट्रेनों के अन्दर जलते थे। उन दिनों लैम्प को दियासलाई से जलाना पड़ता था। अब सभी ट्रेनों में विद्युत्-लैम्प जलते हैं। इन लैम्पों के लिए विद्युत्धारा पहियों के पास लगे

ज़ंजीर खींचकर मुसाफिर गाड़ी रोक रहा है

डिब्बे के नीचे वैकुअम ब्रेक लगा है। ज़ंजीर खींचने से एक वाल्व खुल जाती है और नीचे के सिलिंडर में हवा घुस जाती है, जिससे पहिए में ब्रेक लग जाते हैं। ऊपर कोने में, पहिए में ब्रेक लगते समय का परिवर्द्धित चित्र है।
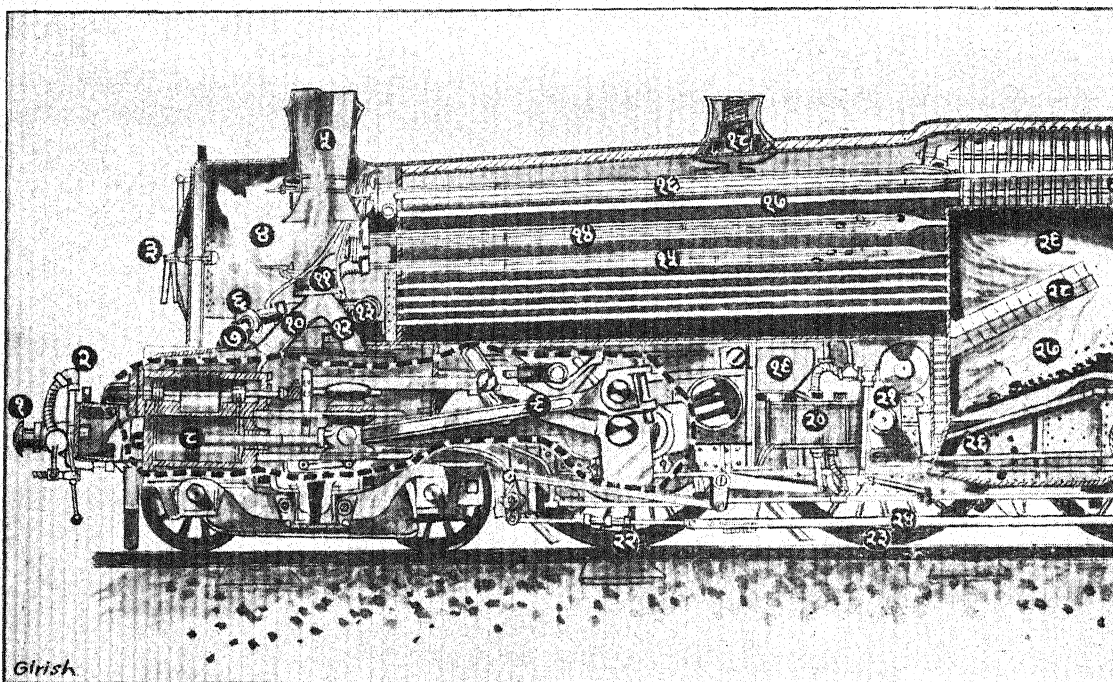
बड़े आकार के आधुनिक रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और कल-पुर्ज़े—(१)
१. दाहिना बफ़र, २. वैकुअम पाइप, ३. धुँए के बक्स का दरवाज़ा, ४. धुँए का बक्स, ५. धुँए की चिमनी, ६. बाएँ सिलिंडर को जा रहा भाप का पाइप, ७. दाहिने सिलिंडर को जा रहा भाप का पाइप, ८. बायाँ सिलिंडर, ९. बाएँ सिलिंडर का डंडा, १०. भीतरी सिलिंडर का निकास पाइप, ११. ब्लास्ट पाइप, १२. बाहरी सिलिंडर का निकास पाइप, १३. दाहिने बाहरी सिलिंडर को भाप का पाइप, १४. सुपर हीटर, अर्थात् भाप गरमानेवाली नलियाँ, १५. ब्वाँयलर की नलियाँ, १६. रेगूलेटर रॉड, १७. ब्यॉयलर का प्रधान भाग, १८. सैफ्टी वाल्व, १९. बालू की पेटी, २०. वैकुअम ब्रेक सिलिंडर, २१. वैकुअम ब्रेक की टंकी, २२-२३-२५. चालक पहिए, २४. ब्रेक लगाने का डंडा, २६. राख-निकास,

हुए डायनमो से ली जाती है। घूमते हुए पहिए डायनमो का परिचालन करते हैं। डायनमो की विद्युत्-धारा डिब्बे के पेंदे में रक्खी हुई स्टोरेज बैटरी को चार्ज कर देती है, ठीक उसी तरह जैसे दौड़ती हुई मोटरकार में स्टोरेज बैटरी अपने आप चार्ज होती रहती है। इसी से विद्युत-लैम्प में विद्युत्धारा प्रवाहित होती है।

पैसेंजर ट्रेन में एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक लम्बा पाइप लगा रहता है। डिब्बों को जोड़ते समय उनके पाइप भी एक दूसरे से जोड़ दिये जाते हैं। इस पाइप का जोड़ डिब्बे के नीचे लगे हुए वैकुअम ब्रेक से रहता है। ड्राइवर इस लम्बे पाइप के सिरे पर वेग के साथ भाप फेंकता है। इस भाप के संग खिंचकर पाइप की हवा भी बाहर निकल जाती है, और समूचे पाइप में लगभग पूर्ण वैकुअम उत्पन्न हो जाता है। जब तक पूर्ण वैकुअम इस पाइप में बना रहता है, हर पहिए के ब्रेक उससे अलग रहते हैं। सीट के ऊपर की ज़ंजीर खींचने से एक वाल्व हटाकर बाहर की हवा इस पाइप के अन्दर प्रवेश कर जाती है। वैकुअम पाइप में हवा ने ज्यों ही प्रवेश किया, उसके धक्के से ब्रेक पहियों पर जा दबते हैं।
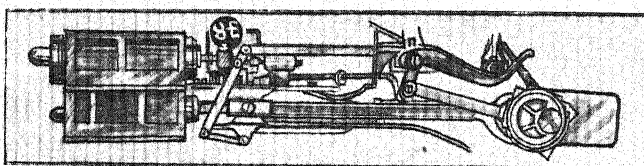
ड्राइवर या गार्ड भी इस पाइप का वाल्व खोलकर समूची ट्रेन में ब्रेक लगा सकता है। वैकुअम ब्रेक की मदद से ही भागती हुई एक्सप्रेस ट्रेन डेढ़ फ़र्लाङ्ग की दूरी के अन्दर-अन्दर रोककर एकदम खड़ी कर ली जा सकती है। वैकुअम ब्रेक पूर्ण रूप से स्वयंक्रिय होते हैं।
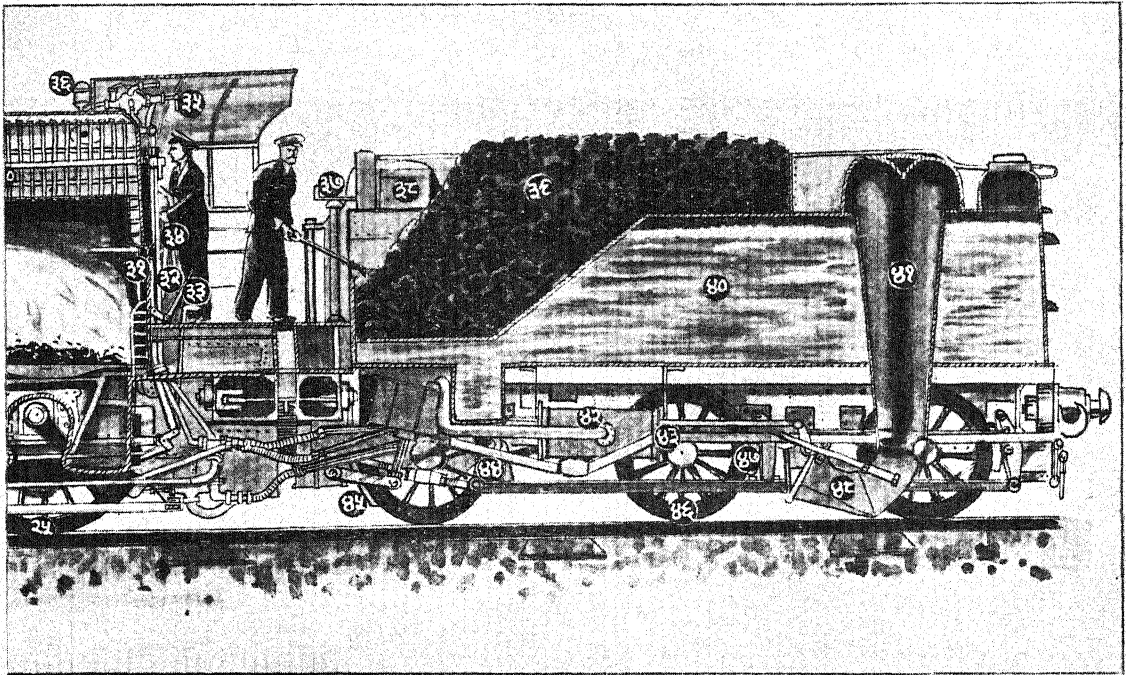
बड़े आकार के आधुनिक रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और कल-पुर्ज़े—(२)

२७. भट्ठा, २८. फायरब्रिक की मेहराब, २९. फायर-बक्स, ३०. ब्वॉयलर के स्टे-राडस् ३१. भट्ठे का द्वार, ३२. सिलिंडर के पानी का नियंत्रक हैंडिल, ३३. राख गिराने का हैंडिल, ३४. इंजिन को पीछे की ओर उल्टे चलाने का हैंडिल, ३५. भाप छोड़ने का हैंडिल, ३६. सीटी, ३७. पानी लेने का नियंत्रण करनेवाला लीवर, ३८. औज़ार-बक्स, ३९. कोयला, ४०. पानी की टंकी, ४१. ज़मीन से पानी लेने का यंत्र, ४२. वैकुअम टंकी, ४३. टेंडर ट्रेन पाइप, ४४. ब्रेक के ब्लॉक, ४५. बालू गिराने का नल, ४६. टेंडर के पहिए, ४७. ब्रेक ब्लॉक, ४८. बिना कहीं रुके रास्ते ही से चलते-चलते इंजिन के लिए पानी लेनेवाले पाइप का मुँह, ४९. सिलिंडर के भीतर का दृश्य।

यदि संयोगवश गाड़ी के कुछ डिब्बे ट्रेन के शेष हिस्से से अलग हो जायँ तो वैकुअम पाइप के खुल जाने से अपने आप ट्रेन के अगले-पिछले हिस्सों में ब्रेक लग जायँगे।

अमेरिका की कुछ ट्रेनों में वैकुअम ब्रेक के स्थान पर संकुचित वायु के ब्रेक काम में लाये जाते हैं। इंजिन में ही भाप से परिचालित होनेवाले संकुचित वायु के पम्प से एक बड़े पीपे में ख़ूब कसकर हवा भर ली जाती है। इस पीपे का सम्बन्ध एक लम्बे पाइप से रहता है, जो समूची ट्रेन में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। इस पाइप में हवा का दबाव भरपूर बना रहता है। ऐसी हालत में इस पाइप का जोड़ एक गौण पीपे द्वारा हर डिब्बे के ब्रेक से रहता है। जब तक पाइप में हवा का दबाव भरपूर बना रहता है, ब्रेक पहियों से अलग रहता है। किन्तु ड्राइवर ने जहाँ पाइप की हवा का दबाव घटाया कि प्रत्येक गौण पीपे की हवा वेग के साथ ब्रेक पर धक्का देती है, और पहियों पर ब्रेक आ जमते हैं।

इंजिनों के निर्माण में भी पिछले बीस-पचीस वर्षों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। स्टीफ़ेन्सन का 'राकेट' १८३० में तैयार हुआ था। अपने युग के इंजिनों का यह प्रतीक माना जा सकता है। अतः इस इंजिन का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना कुछ अनुपयुक्त न होगा। यह भाप का सर्वप्रथम इंजिन था, जिसका सिलिण्डर इंजिन के बाहर लगाया गया था। इसमें दो बड़े आकार के पहिए लगे थे, जिनका सम्बन्ध सिलिण्डर के पिस्टन से था। ट्रेन खींचने का काम ये ही पहिए करते थे। इन पहियों का व्यास ४ फ़ीट ८॥ इंच था। इनके अतिरिक्त दो छोटे पहिए भी पीछे लगे थे, जिन पर इंजिन का पिछला भाग टिका हुआ था। ये पहिए ट्रेन खींचने में स्वयं मदद नहीं करते थे। इस इंजिन के सिलिण्डर का व्यास ८ इंच और लम्बाई १८ इंच थी। ब्वॉयलर ६ फ़ीट लम्बा और ३ फ़ीट ४ इंच

ऊँचा था। समूचे इंजिन का वज़न केवल ४। टन था, जिसमें पानी और कोयला लादनेवाले टेन्डर का ३। टन वज़न भी शामिल था (दे० १४६० पृ० का चित्र)।

थोड़े ही दिनों पश्चात् यह अनुभव किया गया कि बोझ से लदी हुई लम्बी ट्रेनों को खींचने के लिए रॉकेट के अकेले दो चालक पहिये काफ़ी नहीं हैं। ऐसी दशा में इन चालक पहियों की पकड़ रेल की पटरियों पर ठीक नहीं बैठती थी। इस मुश्किल को दूर करने के लिए यह निश्चय हुआ कि एक जोड़े की जगह कई जोड़े चालक पहिए इंजिन में इस प्रकार फ़िट किए जायँ कि इस्पात के मज़बूत डण्डे द्वारा वे एक दूसरे से सम्बद्ध रहें। ऐसी हालत में रेल की लाइन पर उनकी पकड़ अच्छी हो सकेगी तथा इंजिन भारी और लम्बी ट्रेनों को आसानी के साथ खींच सकेगा। पहियों की पकड़ इस बात पर निर्भर करती है कि उन पर ऊपर से कितना दबाव पड़ रहा है। यह दबाव जितना अधिक होगा उनकी पकड़ भी उतनी ही ज़्यादा होगी। इसी कारण इंजिन साधारणतः भारी-भरकम बनते हैं। किन्तु इंजिन का समूचा वज़न यदि एक ही जोड़े चालक पहियों पर डाल दिया जाय तो दो बातों का डर हो सकता है—एक यह कि स्वयं पहिया ही अत्यधिक बोझ के कारण टूटकर नीचे बैठ सकता है और दूसरा यह कि उसके नीचे की रेल की पटरी ही ज़मीन में धँस सकती है। इन ख़तरों से बचने के लिए इंजिन का बोझ दो या दो से अधिक जोड़े पहियों पर बाँट दिया जाता है। ये पहिए इस्पात के मज़बूत डण्डों द्वारा एक दूसरे से जुड़े होते हैं। अतएव ट्रेन को खींचने के लिए इनका सम्मिलित ज़ोर काम में आता है।

आधुनिक युग के प्रत्येक इंजिन में साधारणतः तीन प्रकार के पहिए लगे रहते हैं। सामनेवाले पहिए, चालक पहिए, और फिर पीछेवाले पहिए। सामने और पीछेवाले पहिए ट्रेन खींचने का काम नहीं करते, क्योंकि इनका सम्बन्ध इंजिन के पिस्टन से नहीं होता। इंजिनों का वर्गीकरण भी इन्हीं पहियों की संख्या के अनुसार किया जाता है। जैसे २—४—२ से हम समझते हैं कि इंजिन में सामने दो पहियों का एक जोड़ा है, फिर दो जोड़े चालक पहियों के हैं, और सबसे पीछे छोटे निष्क्रिय पहियों का एक जोड़ा और है। नीचे की तालिका द्वारा कुछ इंजिनों की जातियाँ व्यक्त की जाती हैं:—

इंजिन का नाम	पहियों का क्रम (संख्या में)
अटलाण्टिक	४—४—२
पैसिफ़िक	४—६—२
मोगल	२—६—०
मिकाडो	२—८—२
सेन्टीपीड	०—१२—०

मालगाड़ियों के खींचने के लिए कभी-कभी ६ जोड़े चालक पहियोंवाले इंजिन सेन्टीपीड भी काम में लाये जाते हैं। किन्तु पैसेञ्जर और डाक-गाड़ियों के लिए अधिक-से-अधिक दो या तीन जोड़े चालक पहियोंवाले इंजिन काम में लाये जाते हैं, क्योंकि चालक पहियों की संख्या अधिक होने से इनको मिलानेवाले डण्डे तेज़ रफ़्तार से हरकत नहीं कर पाते और इसी कारण ऐसे इंजिनों की रफ़्तार भी तेज़ नहीं होने पाती। हाँ, पहाड़ी प्रान्तों में, जहाँ लम्बी एक्सप्रेस ट्रेनों को ऊँचाई पर खींचना पड़ता है, इंजिनों में चार जोड़े चालक पहिए फिट किए जाते हैं। इन लम्बी ट्रेनों का वज़न कभी-कभी ३० हज़ार मन तक भी पहुँच जाता है।

चालक पहिए का आकार जितना बड़ा होगा उतनी ही अधिक उस इंजिन की रफ़्तार भी होगी, किन्तु बोझ खींचने की उसकी शक्ति भी उसी अनुपात में कम हो जायगी। इसीलिए एक्सप्रेस ट्रेन के इंजिन के चालक पहियों का आकार अपेक्षाकृत बड़ा रक्खा जाता है। इन पहियों का व्यास लगभग ७ फ़ीट होता है। मालगाड़ी के इंजिनों में चालक पहियों का व्यास अधिक-से-अधिक ५ फीट रखते हैं ताकि भारी बोझ खींचने में ये समर्थ हो सकें।

तेज़ रफ़्तार से दौड़नेवाले इंजिन, जिन्हें लम्बी यात्राएँ नहीं करनी होती, अपने साथ 'टेन्डर' में बहुत सारा कोयला-पानी लादकर ले जाना नहीं चाहते। ऐसे इंजिन अन्य इंजिनों की अपेक्षा थोड़ा ही पानी लेकर चलते हैं। यह पानी सामने ब्वॉयलर की बग़ल में बने हुए आयताकार हौज़ में रक्खा जाता है। ऐसे इंजिन को 'टैङ्क इंजिन' के नाम से पुकारते हैं। इंजिन के पिछले भाग में ही तीन-चार टन कोयला भी लाद लेते हैं। इन इंजिनों में टेण्डर वाला भाग जोड़ा ही नहीं जाता। अतएव आगे-पीछे दोनों ही दिशाओं में ये इंजिन आसानी से दौड़ लगा लेते हैं। कम फ़ासले की लोकल ट्रेनों के लिए इस श्रेणी के इंजिन बड़े काम के साबित होते हैं। ये इंजिन इसके मुहताज नहीं रहते कि लौटने के पहले घुमाकर इनका मुँह फेर लिया जाय।

इसके प्रतिकूल कनाडियन रेलवे के कुछ इंजिनों को ५०० मील लम्बा सफ़र करना पड़ता है। ऐसे इंजिनों के अकेले

'वेस्टिङ्गहाउस' ब्रेक नामक हवा के दबाव से काम करनेवाला ब्रेक कैसे लगाया जाता है?

यह स्वयंक्रिय ब्रेक इंजिन ही में भाप से परिचालित होनेवाले संकुचित वायु दबाव यंत्र द्वारा काम करता है। इसकी सहायता से एक बड़ी टंकी में ख़ूब कसकर हवा भर ली जाती है। इस पीपे का संबंध एक लंबे पाइप से रहता है जो समूची ट्रेन में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। इस पाइप में हवा का दबाव भरपूर बना रहता है। इस पाइप का संबंध एक गौण हवा की टंकी द्वारा हर डिब्बे के ब्रेक से रहता है। जब तक हवा का दबाव पाइप में भरपूर रहता है, ब्रेक पहियों से अलग रहता है, परंतु ड्राइवर या गार्ड ने जहाँ पाइप की हवा का दबाव घटाया कि प्रत्येक गौण टंकी की हवा वेग से ब्रेक पर धक्का देती है और पहिए पर ब्रेक लग जाता है।

(बाईं ओर) पटरी पर जमा बर्फ़ को चीर-कर आगे बढ़ती हुई रेलगाड़ी। इसके लिए इंजिन के आगे एक यंत्र लगाया जाता है जो 'स्नो प्लो' कहलाता है। (दाहिनी ओर) लंदन की ट्यूब रेलवे के इंजिनों में लगा 'डेड मैन का हैंडिल,' जिस पर से ड्राइवर का हाथ उठते ही ट्रेन रुक जाती है।

बेहद ढालू रास्ते पर चढ़ने-उतरनेवाली एक रेलगाड़ी का दृश्य

यह अमेरिका के एक शहर के निचले भाग से ऊँचे भाग को जाने के लिए काम में लाई जा रही एक प्रकार की रेलगाड़ी का दृश्य है, जिसमें नीचे का पैंदा समतल न होकर पटरियों की तरह ढालू होता है।

टेन्डर के पहियों की संख्या १२ तक पहुँच जाती है। इस विशालकाय टेन्डर में १४ हज़ार गैलन पानी समा सकता है। इङ्गलैण्ड की ट्रेनों के इंजिनों के टेन्डर इतने बड़े नहीं होते। अतः लम्बी यात्रा पर जानेवाले इंजिनों को पानी लेने के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, ताकि रास्ते में बिना रुके ही वे आवश्यकतानुसार पानी खींच सकें। इसके लिए रास्ते के स्टेशनों पर लाइन के बीच में दो-ढाई फ़र्लाङ्ग लम्बे गड्ढे बने रहते हैं। ये गड्ढे १८ इंच चौड़े और ६ इंच गहरे होते हैं। इन गड्ढों में साफ़ पानी भरा रहता है। तेज़ रफ़्तार में जिस समय इंजिन इनके ऊपर से होकर गुज़रता है, ड्राइवर एक पाइप को नीचे बढ़ा देता है ताकि पाइप का मुँह पानी की सतह छू ले। झटका खाकर पानी अपने आप इस नली में टेन्डर के रास्ते चढ़ जाता है। किंग्स क्रास से एडिनबरा को जानेवाली एक्सप्रेस ट्रेन रास्ते में कहीं भी नहीं रुकती, फिर भी ४०० मील की इस लम्बी यात्रा में सात स्टेशनों पर लाइन के गड्ढों से इस ट्रेन का इंजिन अपने लिए पानी खींचता है। इस तरकीब से समय की काफ़ी बचत हो जाती है और इंजिन का डील भी नहीं बढ़ता।

कुछ एक्सप्रेस ट्रेनें अपने संग ऐसे डिब्बे लेकर चलती हैं, जिन्हें रास्ते के स्टेशनों पर छोड़ना होता है। समूची ट्रेन उस स्टेशन पर नहीं रुकती। जिस डिब्बे को अगले स्टेशन पर छोड़ना होता है, उसे स्टेशन पर पहुँचने के एकाध मील पहले ही ट्रेन से अलग कर देते हैं। आगे-आगे ट्रेन दौड़ती जाती है, और पीछे यह डिब्बा भी भागता चला आता है। इस डिब्बे में एक गार्ड भी रहता है, जो स्टेशन पर ब्रेक लगाकर अपने डिब्बे को खड़ा कर देता है।

इंजिनों में दो-तीन और कभी-कभी चार सिलिण्डर काम में आते हैं। दो सिलिण्डरवाले इंजिन में या तो दोनों सिलिण्डर इंजिन के फ्रेम के बाहर रहते हैं या दोनों ही भीतर। जब तीन सिलिण्डर काम में आते हैं तो दो सिलिण्डर बाहर होते हैं और एक अन्दर। चार सिलिण्डर वाले इंजिन में भी दो सिलिण्डर इंजिन के बाहरी हिस्से में फ़िट किये होते हैं।

इंजिन को सामने के बजाय पीछे की ओर ले जाने के

लिए ड्राइवर को केवल एक हैण्डिल एक ओर से दूसरी ओर सरकाना पड़ता है। इस हैण्डिल का सम्बन्ध सिलिण्डर के वाल्व रॉड से होता है।

इंजिन की शक्ति बढ़ाने के लिए अब दुहरे इंजिन भी बनने लग गए हैं। ऐसे इंजिनों में एक ही ब्वॉयलर से दो इंजिनों को भाप मिलती है। अवश्य ही ऐसे इंजिनों की लम्बाई भी काफ़ी अधिक होती है, फिर भी इनका ढाँचा इतनी दक्षता के साथ तैयार किया जाता है कि मोड़ पर तेज़ रफ़्तार में भी ये आसानी से मुड़ जाते हैं। इस श्रेणी के इंजिन २-८-०+०-८-२ ढंग के होते हैं।

डाकगाड़ियों की रफ़्तार बढ़ाने के उद्योग में स्ट्रीम-लाइन्ड इंजिनों का विकास हुआ। तेज़ रफ़्तार से जब कोई भी चीज़ हरकत करती है तो हवा के झोंके उसके ख़िलाफ़ अवरोधक शक्ति उस पर डालते हैं। उस अवरोधक शक्ति को कम करने के लिए यह आवश्यक होता है कि हरकत करनेवाली चीज़ का बाह्य धरातल एकदम चिकना सपाट हो। आड़े-तिरछे धरातल के धक्के लगने से हवा क्षुब्ध हो उठती है, फलस्वरूप हरकत करनेवाली वह चीज़ हवा के कारण रुकावट महसूस करती है। अतः हवा की अवरोधक शक्ति कम करने के लिए इंजिन के सामने का भाग फ़ौलाद की एक सपाट चद्दर से ढक दिया जाता है। इससे टकराते ही हवा फिसलकर चुपचाप एक ओर हट जाती है और इंजिन बिना कुछ ख़ास अवरोधक शक्ति महसूस किये हुए ही आगे बढ़ जाता है। हाल में इसी ढंग के स्ट्रीम-लाइन्ड इंजिनों ने तेज़ रफ़्तार में बाज़ी मारी है। 'कारोनेशन स्काट' नामक इंजिन ने २९ जून १९३७ को ११४ मील की रफ़्तार से लम्बी ट्रेन को खींचा था। तीसरी जुलाई १९३८ को एक दूसरे स्ट्रीम-लाइन्ड इंजिन ने इस रेकार्ड को भी मात कर दिया। इस अवसर पर १२५ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार उसने हासिल की थी।

पर्वतीय प्रदेशों में ट्रेन को चढ़ाई पर ले जाने के लिए ख़ास ढंग के इंजिन काम में लाये जाते हैं। इंजिन के पहियों की पकड़ सँभालने के लिए इंजिन के पेंदे में दाँत लगे रहते हैं। ट्रेन ज्यों-त्यों ऊपर चढ़ती है, इंजिन के दाँत लाइन के बीचवाले दाँतों में क्रम से फँसते जाते हैं, अतः ट्रेन के पीछे खिसकने का डर नहीं रहता। स्विटज़रलैण्ड में आल्प्स पर्वत की श्रेणियों को पार करनेवाली रेलवे लाइनें सर्पिल आकार में बल खाती हुई ऊपर चढ़ती हैं। कई स्थानों पर चढ़ाई कम करने के लिए पहाड़ को काटकर रास्ता बनाया गया है। फिर भी कहीं-कहीं प्रति दो फ़ीट

रेलवे के संचालन में इतनी अधिक सतर्कता रखने पर भी प्रायः दुर्घटनाएँ हो ही जाती हैं। कहीं ट्रेनें टकरा जाती हैं, कहीं वे लाइन से उतर पड़ती हैं, जिससे सैकड़ों जानें प्रति वर्ष चली जाती हैं। ऊपर एक रेलवे-दुर्घटना का दृश्य है।

पीछे एक फ़ुट की चढ़ाई आल्प्स पर्वत की लाइनों में पाई जाती है।

स्विटज़रलैण्ड में लगभग ७ फर्लाङ्ग लम्बी एक और लाइन है, जिसमें प्रति १३॥ इंच पीछे पूरे १२ फ़ीट की चढ़ाई का सामना करना पड़ता है। इस छोटी-सी लाइन पर रेलगाड़ी को चढ़ाने के लिए इंजिन की शक्ति के अतिरिक्त इस्पात के मज़बूत तार की भी मदद ली जाती है। तार का एक सिरा नीचे उतरनेवाली ट्रेन से बँधा होता है और दूसरा सिरा ऊपर चढ़नेवाली ट्रेन से। नीचे जानेवाली ट्रेन का वज़न ऊपर आनेवाली ट्रेन को खींचने में मदद देता है। इस प्रकार इंजिन का काम बहुत-कुछ आसान हो जाता है।

पहाड़ी प्रान्तों में रेलवे इञ्जीनियरों को लाइन साफ़ रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। बर्फ़ या तुषार के ढेर को लाइन पर से हटाने के लिए विशेष ढंग के इंजिन काम में लाये जाते हैं। बर्फ़ के पहाड़ के धँसाव या अवालाँश के धक्के से लाइन और उसके नीचे की चट्टान सब कुछ टूटकर नीचे खड्ड में जा गिरती हैं। इसीलिए कनाडा के ठण्डे प्रान्तों में रेलवे लाइन के ऊपर मीलों तक टिन के शेड बने हुए हैं ताकि लाइन पर बर्फ़ का ढेर न लग जाय।

लन्दन की ट्यूब रेलवे भी कुछ कम आश्चर्यजनक चीज़ नहीं है। लन्दन ट्यूब रेलवे की कुल लम्बाई केवल ७९ मील है, फिर भी प्रति वर्ष २३ लाख ट्रेनें इन लाइनों पर से होकर गुज़रती हैं, और ४० करोड़ यात्री इन पर सफ़र करते हैं। अकेले चेयरिंग क्रास स्टेशन पर भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर तीन ट्यूब बने हुए हैं, जिनमें से होकर घण्टे भर के अन्दर २०० ट्रेनें गुज़रती हैं। ये रेलगाड़ियाँ विद्युत्-शक्ति से चलती हैं। ट्यूब के अन्दर ६०० वोल्टवाले विद्युत् तार लगे हुए हैं। इन ट्रेनों के लगभग प्रत्येक डिब्बे के पेंदे में विद्युत् मोटर लगा रहता है, इन्हीं की मदद से ट्रेन तीव्र गति से लाइन पर दौड़ती है। प्रत्येक डिब्बे के पेंदे में विद्युत् मोटर रखने से एक तो गाड़ी रफ़्तार जल्दी पकड़ती है, और दूसरे ट्रेन में अधिक खट-खट नहीं होती और न व्यर्थ के झटके ही लगते हैं।

धरती के नीचे चलनेवाली रेलों के स्टेशनों से ऊपर-नीचे आने-जाने के लिए बनाए गए एस्केलेटर या अपने-आप चढ़ने-उतरनेवाले ज़ीने (दे० अगले पृष्ठ का मैटर)

ट्यूब रेलवे का परिचालन बड़ी निपुणता और होशियारी के साथ करना पड़ता है। इन ट्रेनों में दुर्घटनाएँ तो बहुत ही कम होती हैं। ट्यूब के प्रवेशद्वार पर साधारण ढंग के सिगनल काम में आते हैं, किन्तु ट्यूब के भीतर अँधेरे में लैम्पवाले सिगनल चौबीसों घण्टे काम में लाए जाते हैं। प्रत्येक सिगनल के नीचे लाइन के पास ही फ़र्श पर एक खटका-सा लगा रहता है। जिस वक़्त सिगनल ख़तरे पर लगा होता है, यह खटका ऊपर उठ जाता है। यदि ट्रेन के ड्राइवर ने सिगनल पर ध्यान नहीं दिया और ट्रेन आगे बढ़ी तो सिगनल से आगे बढ़ते ही यह खटका ट्रेन के अगले डिब्बे में फँस जाता है। फलस्वरूप ट्रेन के विद्युत्-मोटरों से विद्युत्धारा का सम्बन्ध अलग हो जाता है, साथ ही अपने आप समूची ट्रेन में ब्रेक लग जाते हैं।

आफ़िस के वक़्त पर तो मिनट-मिनट पर ट्रेनें छूटती रहती हैं। प्रत्येक ट्यूब के प्रवेशद्वार पर एक घड़ी लगी रहती है, जिसे देखकर ड्राइवर फ़ौरन मालूम कर लेता है कि आगेवाली ट्रेन को उस जगह से गुज़रे कितने मिनट हुए हैं। उसी हिसाब से ड्राइवर अपनी ट्रेन की रफ़्तार घटा-बढ़ा लेता है। कभी-कभी तो सामनेवाली ट्रेन की पिछली रोशनी आँख से ओझल भी नहीं होने पाती कि दूसरी ट्रेन को उसी दिशा में आगे बढ़ने के लिए अनुमति मिल जाती है। प्रवेशद्वार की इस घड़ी में लगे हुए कार्बन

पेपर पर प्रत्येक ट्रेन का टाइम स्वयं अंकित हो जाता है कि किस समय वह ट्रेन सुरंग के अन्दर दाख़िल हुई थी। ड्राइवर की गाड़ी में एक खास ढंग की घड़ी लगी रहती है, जिसे देखकर ड्राइवर फ़ौरन् मालूम कर लेता है कि उसकी ट्रेन नियत समय से कितने पीछे या पहले जा रही है।

आफ़िस टाइम पर समय की बचत के लिए टिकट बाँटने और पैसे भुनाने का काम स्वयंक्रिय मशीनों द्वारा किया जाता है। अकसर तो लिफ़्ट पर ही टिकट बेचने का इन्तज़ाम रहता है, ताकि सड़क से ट्यूब-स्टेशन के लिए नीचे उतरते समय लिफ़्ट पर ही लोग टिकट ख़रीद लें। डिब्बों के दरवाज़े भी विद्युत्धारा की मदद से क्षण भर के अन्दर गार्ड बन्द कर सकता है। इस प्रकार स्टेशनों पर व्यर्थ की देर नहीं होने पाती। स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर विद्युत् प्रकाश से अगली गाड़ी का नाम अंकित कर दिया जाता है कि अमुक ट्रेन अमुक ठौर को जायगी।

भीड़ के वक़्त अकेले लिफ़्ट से काम नहीं चलता, अतः लिफ़्ट के स्थान पर अब एस्केलेटर काम में लाये जाते हैं। एस्केलेटर घूमते हुए सीढ़ीनुमा प्लैटफ़ार्म होते हैं जो साइकिल की चेन की भाँति चक्कर लगाया करते हैं। एस्केलेटर की सीढ़ी पर आप खड़े हो जाइए। स्वयं वह सीढ़ी आगे बढ़ती हुई नीचे पहुँच जायगी। अथवा यदि एस्केलेटर नीचे से ऊपर को जा रहा है तो निष्प्रयास ही नीचे से आप ऊपर पहुँच जायँगे। यद्यपि एस्केलेटर प्रति घण्टे दो मील की रफ़्तार से चलते हैं, फिर भी लन्दन ट्यूब-रेलवे के तमाम एस्केलेटर मिलकर २७०० मील का फ़ासला प्रतिदिन तय करते हैं! एस्केलेटर के प्रयोग में एक और सहूलियत है। यदि एकाएक विद्युत्धारा बंद भी हो जाय तो यात्रियों का ऊपर से नीचे आना-जाना रुक नहीं सकता, क्योंकि ऐसी हालत में एस्केलेटर अपनी जगह पर एकदम रुक जाते हैं और तब ये स्थायी सीढ़ियों का काम देने लग जाते हैं।

रेलवे के संचालन में सिगनलों और पटरियों के जोड़ों का बड़ा महत्त्व है। (बाईं ओर) स्टेशन पर रेलवे लाइनों का जाल। जहाँ पटरियाँ एक-दूसरे से फूटती हैं या एक-दूसरे में मिलती हैं वहाँ पाइंट लगे रहते हैं। आज दिन सिगनल और पाइंट इस तरह से संबद्ध कर दिए जाते हैं कि जिस लाइन पर पाइंट लगा हो उसी के लिए सिगनल भी होता है, अन्य का नहीं। (नीचे) एक आधुनिक सिगनल-कैबिन

ट्यूब के अन्दर यदि किसी कारणवश अचानक उस सेक्शन की विद्युत्धारा को बन्द करने की आवश्यकता
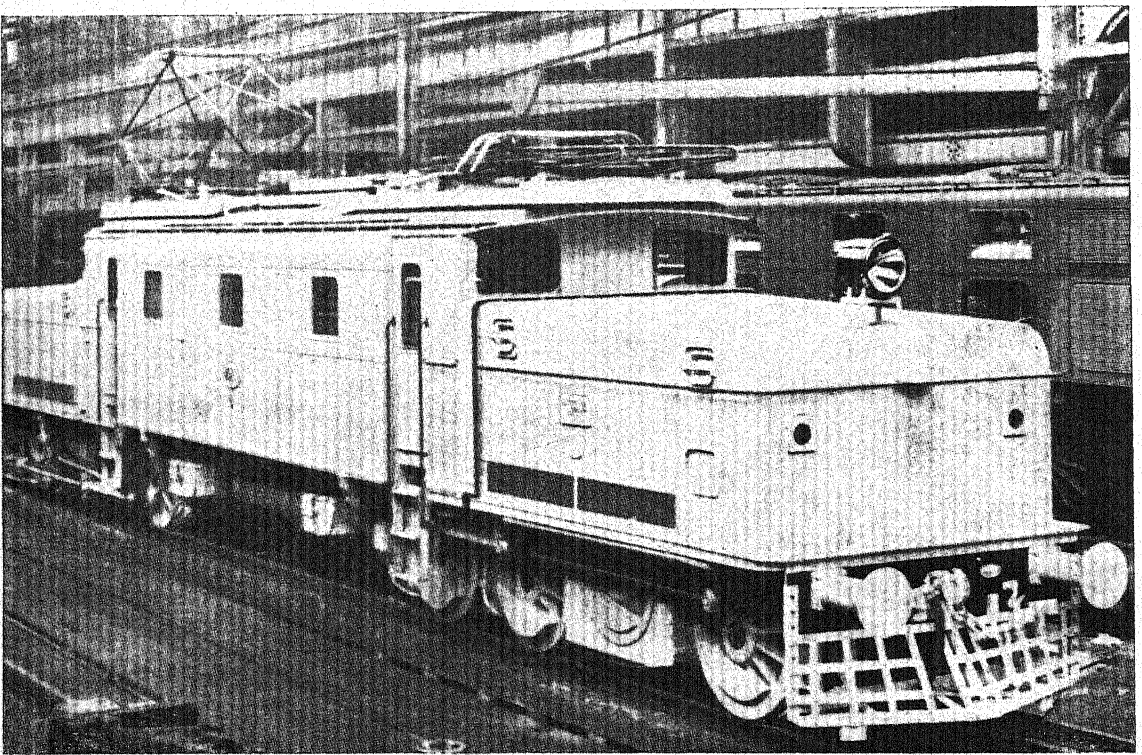
हमारे देश में बंबई के पास बिजली से चलनेवाली रेलगाड़ियों का एक इंजिन

प्रतीत हुई तो ड्राइवर ट्यूब की छत से लटकते हुए दो नंगे तारों को एक दूसरे से छुआकर विद्युत्धारा का संबंध तोड़ सकता है। उसी क्षण निकटवर्त्ती स्टेशन पर रोशनी और घण्टियों द्वारा ख़तरे की सूचना मिल जाती है कि अवश्य इस हलके में कुछ गड़बड़ी है। ज़रूरत पड़ने पर टेलीफ़ोन को ट्यूब के तार से जोड़ कर ड्राइवर स्टेशन के कर्मचारी से बातचीत भी कर सकता है। विद्युत्धारा के बन्द हो जाने पर ट्रेन में एकदम अँधेरा नहीं छा जाता। ऐसे वक़्त पर ट्रेन के अन्दर तथा सुरंगों में अपने आप रोशनी जल उठती है।

विद्युत्ट्रेन के इंजिन में एक कमानीदार हैन्डिल भी लगा रहता है। ट्रेन चालू रखने के लिए इस हैण्डिल को दबाए रखना ज़रूरी होता है। यदि ड्राइवर अचानक सो जाय या बीमार हो जाय तो ज़ोर ढीला पड़ते ही हैन्डिल ऊपर को उठ आता है, और ट्रेन की विद्युत्-मोटर का संबंध विद्युत्धारा से टूट जाता है, साथ ही समूची ट्रेन में वेस्टिङ्ग हाउस ब्रेक अपने आप लग जाते हैं। इस हैन्डिल को "डेडमैन का हैन्डिल" कहते हैं। ट्रेन पूरी रफ़्तार से भागी जा रही हो, इतने में एकाएक ड्राइवर की यदि मृत्यु हो जाय तो हैन्डिल के ढीला होते ही ट्रेन अपने आप रुक जायगी—किसी प्रकार की दुर्घटना नहीं हो सकती।

किन्तु ट्रेनों को दुर्घटनाओं से बचाने के लिए जितनी तरकीबें ईजाद की गयी हैं, उनमें सिगनलों का स्थान सर्वोपरि है। इङ्गलैण्ड की सर्वप्रथम रेलवे लाइन का उद्घाटन १८२५ में हुआ था। पूरे दस वर्ष बाद १८३५ में खम्भे में लगे हुए सिगनलों का इस्तेमाल शुरू हुआ। इसके पहले रेलवे पुलिस के कान्सटेबुल ही हाथ में झण्डियाँ लेकर रेलगाड़ियों के आने-जाने पर नियंत्रण रखते थे। स्टेशन से एक ट्रेन के रवाना होने के काफ़ी देर बाद दूसरी ट्रेन को उसी दिशा में आगे बढ़ने की आज्ञा मिलती। इकहरी लाइन पर टाइम टेबुल के अनुसार क्रम से गाड़ियाँ गुज़रती थीं। विपरीत दिशाओं से आनेवाली ट्रेनों के लिए स्थान नियुक्त थे कि अमुक स्थान पर वे एक दूसरे से मिलेंगी। यदि कोई एक ट्रेन में किसी कारण देरी हो जाती तो उस लाइन की सभी ट्रेनों के समय में गड़बड़ी पड़ जाती। अकसर एक ट्रेन को दूसरी ट्रेन के लिए रास्ता देने के लिए लौटकर पीछेवाले स्टेशन के प्लैटफ़ार्म पर जाना पड़ता था।

१८३४ में लिवरपूल-मैन्चेस्टर लाइन पर लाल रंग की आयताकार झण्डी को काठ के फ्रेम पर चढ़ाकर खम्भे पर लगाया गया। 'लाइन खाली नहीं है' यह बताने के लिए झण्डी घुमाकर एकदम सामने कर दी जाती। और 'लाइन खाली है' यह बताने के लिए झण्डी को पुनः ९० अंश घुमाकर खम्भे की सीध में कर देते, ताकि लाइन पर से झण्डी दिखाई ही न पड़े। कुछ दिनों बाद कपड़े की झण्डी के स्थान पर लाल रंग का काठ का तख़्ता इस्तेमाल किया जाने लगा। देहाती पंखे की तरह यह तख़्ता भी लम्बवत कीली पर घूम जाता। रात के समय तख़्ते पर लैम्प लगा दिये जाते।

१८४१ में लन्दन क्रायोडन रेलवे में भुजावाले सिगनल का पहली बार इस्तेमाल हुआ। खम्भे के साथ यदि भुजा समकोण बनाती तो इसके मानी होते थे कि ट्रेन सिगनल से आगे नहीं जा सकती। यदि भुजा ४५ अंश का कोण बनाती तो इसके मानी होते कि ट्रेन को सतर्कता के साथ आगे बढ़ना है, और जब भुजा खम्भे के समानान्तर आकर खम्भे की दराज़ में ग़ायब हो जाती तो इसके मानी होते कि ट्रेन निधड़क आगे बढ़ सकती है। ये सिगनल खम्भे में लगे हुए लीवर की मदद से ऊपर-नीचे किये जा सकते थे। अतः प्रत्येक सिगनल के लिए एक सिगनलर की आवश्यकता होती थी। एक दिन एक कुशाग्र-बुद्धि सिगनलर ने अपनी कोठरी में बैठे-बैठे तार और घिर्रियों की मदद से दो-तीन सिगनलों के एक साथ परिचालन करने की तरकीब ईजाद की। आजकल सिगनल-कैबिन में बीसियों सिगनलों के तार विभिन्न लीवरों में लगे रहते हैं। इन्हीं लीवरों की मदद से ये सिगनल ऊपर या नीचे किये जा सकते हैं।

शुरू के दिनों में ट्रेन गुज़र जाने के बाद तीन मिनट तक सिगनल ख़तरे की स्थिति में रखा जाता था, फिर ७ मिनट तक 'सतर्कता के साथ आगे बढ़ो' की स्थिति में और तब लाइन-क्लियर की हालत में गिरा दिया जाता था। सिगनल ठीक करने की इस रीति को टाइम सिगनलिंग कहते हैं।

जंकशन पर आनेवाली गाड़ियों को सही लाइन पर लाने के लिए पटरी के 'पाइंट' बदलने पड़ते हैं। अक्सर पाइंट लगाने में ग़लती हो जाया करती थी, किन्तु सिगनल गिरा होने के कारण ट्रेन स्टेशन पर चली आती, अतः किसी-न-किसी दुर्घटना का वह शिकार बन जाती। इस ग़लती से बचने के लिए पाइंट और सिगनल के लीवर को इस तरह सम्बद्ध कर देते हैं कि जब तक पाइंट ठीक तौर से न लगे, सिगनल गिर ही नहीं सकता। इस प्रणाली को इन्टर-लाकिंग कहते हैं।

विद्युत् टेलीग्राफ़ की ईज़ाद ने सिगनलिंग को बड़ी मदद पहुँचाई। अगले स्टेशन से जब तार द्वारा ख़बर आ जाती कि ट्रेन वहाँ पहुँच गई है, तब पिछले स्टेशन से दूसरी ट्रेन
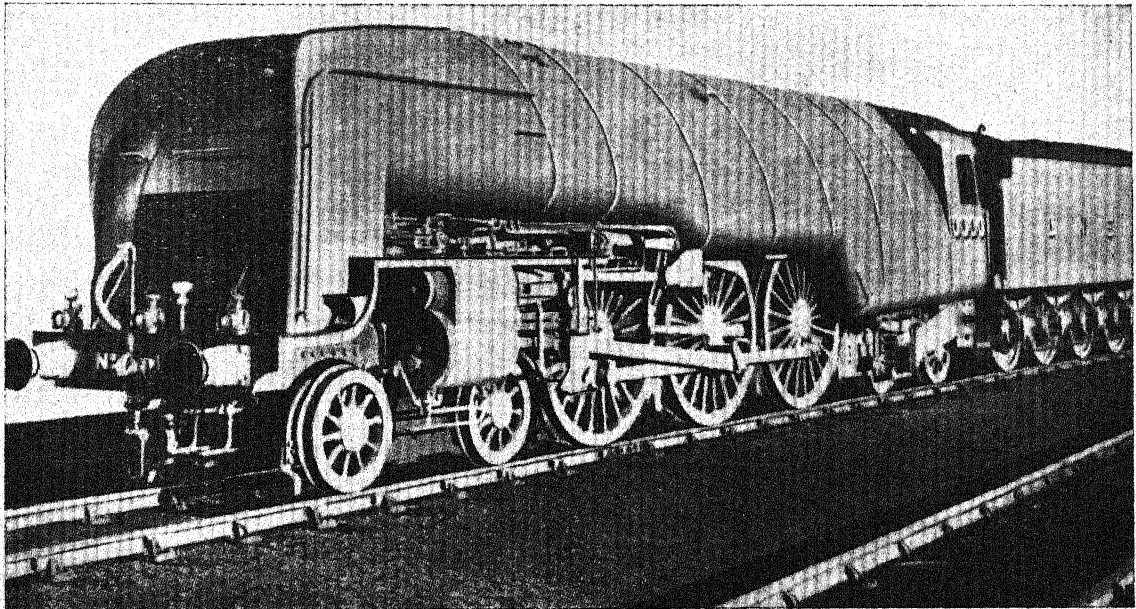
ग्रेट ब्रिटेन में काम में लाया जानेवाला एक नई जाति का भारी स्ट्रीमलाइन्ड इंजिन

को आगे बढ़ने के लिए सिगनल मिलता। हमारे देश में साधारण ढंग के स्टेशनों पर इन दिनों भी अगले स्टेशन से तार द्वारा पूछकर ही ट्रेन को आगे बढ़ने के लिए लाइन-क्लियर देते हैं। किन्तु ऐसी लाइनों पर जहाँ गाड़ियाँ एक के बाद दूसरी जल्दी-जल्दी जाती रहती हैं, यदि अगले स्टेशन पर एक गाड़ी के पहुँचने तक दूसरी गाड़ी पिछले स्टेशन पर ही रुकी रहे तो व्यर्थ में बहुत-सा समय नष्ट होगा। इसी कारण अब दो स्टेशनों के बीच की दूरी को विभिन्न हलकों में बाँट देते हैं—जिस स्थान पर एक हलका ख़त्म होकर दूसरा शुरू होता है, वहाँ एक सिगनल केबिन बना दिया जाता है। प्रत्येक केबिन का सम्बन्ध दूसरे केबिन से तार और टेलीफोन द्वारा बना रहता है। अगले केबिन से पूछने पर जब उत्तर मिलता है कि अगली गाड़ी उस हलके से निकलकर अगले हलके में चली गई तभी पिछले केबिन से ट्रेन को आगे बढ़ने के लिए सिगनल मिलता है। इस योजना के अनुसार एक हलके में एक वक़्त केवल एक ही ट्रेन गुज़र सकती है। विद्युत्-धारा की मदद से एक केबिन के तमाम यंत्र अगले केबिन के यंत्रों से इस प्रकार आपस में संबद्ध रहते हैं कि जब तक आगे के केबिन से लाइन ख़ाली बतानेवाला यंत्र ठीक नहीं कर लिया जाता तब तक पिछले केबिन का सिगनल गिर ही नहीं सकता। अतः एक केबिन-संरक्षक यदि अपनी ड्यूटी पर सतर्क है तो उसके पासवाले केबिन का आदमी अकेले अपनी ग़लती से सिगनल देने में कभी भूल नहीं कर सकता। केबिन में डायलवाले विद्युत्-यंत्र भी लगे रहते हैं, जिनमें सिगनल ठीक दिये जाने पर सुई घूमकर "लाइन पर गाड़ी है" या "हलका ख़ाली है" या "हलका बन्द है" पर आ जाती है। इस यंत्र पर नज़र पड़ते ही फ़ौरन मालूम हो जाता है कि हलका ख़ाली है या नहीं। इस योजना के प्रयोग से अब इस बात की ज़रूरत नहीं रही कि 'सतर्कता से आगे बढ़ो' का सिगनल दिया जाय। अतः भुजावाले सिगनल की अब दो ही स्थितियाँ रखी जाती हैं—एक ख़तरे की और दूसरी ४५ डिग्री डाउन की कि 'हलका ख़ाली है, आगे बढ़ो'।

सिगनल-केबिन के भीतर का दृश्य—केबिन-रक्षक यहाँ बैठे-बैठे ही अपने हलके की विभिन्न पटरियों पर विभिन्न गाड़ियों का परिचालन कर सकता है।

रात के समय केबिन में बैठे ही बैठे केबिनरक्षक मालूम कर लेता है कि सभी सिगनलों में लैम्प जल रहे हैं या नहीं। प्रत्येक लैम्प की लौ के ऊपर ही एक धातु की पत्ती लगी होती है। जब तक यह गर्म रहती है, यह नीचे की ओर झुकी रहती है। लैम्प के बुझते ही ठण्डी होकर यह पत्ती सीधी हो ऊपर उठ जाती है। ऊपर उठते ही एक दूसरी धातु के टुकड़े को छूकर यह विद्युत्-धारा का घेरा स्थापित कर देती है। बस तुरन्त ही केबिन में घण्टी बजने लगती है कि लैम्प बुझ गया। साथ ही एक नन्हीं-सी खिड़की के अन्दर बल्ब जल उठता है—इस खिड़की की काँच पर लिखा रहता है 'बत्ती बुझ गई!'

हमारे देश में बड़े-बड़े केबिनों में भी सिगनल गिराने के लिए और लाइनों के पाइंट मिलाने के लिए हाथ से ही लीवर को खींचना पड़ता है। यदि लीवर और सिगनल के बीच फ़ासला अधिक हुआ तो निस्सन्देह तार खींचने के लिए बहुत ज़ोर लगाना पड़ता है। योरप और अमेरिका में इस काम के लिए अब संकुचित वायु या विद्युत्-शक्ति का प्रयोग करते हैं। ट्यूब रेलवे में सुरंग के अन्दर दिन के समय भी विद्युत्-लैम्पवाले सिगनल इस्तेमाल किए जाते हैं। ट्यूब रेलवे की केन्द्रीय केबिन में काँच के पर्दे पर पूरे हलके का चित्र बना रहता है। नज़र डालते ही मालूम हो जाता है कि किस ठौर पर कौन-सी ट्रेन इस वक़्त मौजूद है।
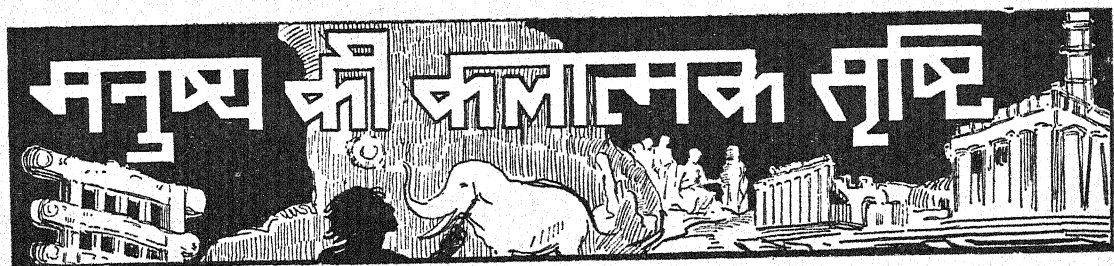
रोमन कला—(१) स्थापत्य

पिछले अंक में हमने इटली में कला के उदय और उसके मूल स्रोतों का दिग्दर्शन किया था, साथ ही रोमन कला की लाक्षणिक विशेषता की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। प्रस्तुत लेख में स्थापत्य के क्षेत्र में रोमन लोगों की कृति पर प्रकाश डाला गया है। इससे आगे के प्रकरण में रोमवालों की कला के अन्य अंगों, अर्थात् मूर्त्ति-निर्माण, चित्रकारी आदि, का विवेचन किया जायगा।

यह असम्भव-सा ही है कि प्रस्तुत अध्याय में रोमन कला के सभी अंगों पर विचार किया जा सके। अतएव, इस लेख में हमें रोमन स्थापत्य की मुख्य विशेषताओं के वर्णन से ही संतोष करना होगा। हाँ, प्रसंगवश रोमन कला के दूसरे मनोरंजक सृजनात्मक कार्य-कलापों का भी उल्लेख थोड़ा-बहुत हम यहाँ करेंगे।

ग्रीस की कला के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह स्वयं ग्रीस देश की ही भूमि की नैसर्गिक उपज थी और आरंभ से अन्त तक सम्पूर्णतया उसी देश की होकर रही, जहाँ कि उसका जन्म हुआ था। एथेंस नगर एक आदर्श नैसर्गिक विकास का परिणाम था। वह समुद्र के किनारे बसा हुआ था और उपद्रव के दिनों में वहाँ का एक्रापॉलिस भागकर आए हुए लोगों का शरणागार बन जाता था। इसी कारण एथेंस का व्यापार और व्यवसाय समृद्ध दशा में था। रोम की दशा इससे भिन्न थी। प्राचीन सभ्यताओं के एक सूक्ष्मदर्शी आलोचक के शब्दों में रोम एथेंस की भाँति दैव-निर्मित न होकर मनुष्य-निर्मित नगर था। रोम एक धीमी बहनेवाली छोटी-सी गँदली नदी के किनारे समुद्र से दूर ऊलजलूल बसा हुआ था और जब तक उसके सम्राटों ने आसपास की दलदली ज़मीन को पाटकर उसे बस्ती बसाने लायक़ नहीं बना दिया, वहाँ मलेरिया तथा दूसरे संक्रामक रोगों का आतंक छाया रहता था। रोम में पानी की शिकायत हमेशा बनी रहती थी और पीने लायक़ पानी तो १० मील की दूरी के भीतर भी कहीं न मिलता था। यह पुरानी कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है।

रोमन देवालयों का सिरताज—रोम का 'पैन्थियन'
आजकल यह ईसाइयों का एक चर्च बन गया है।
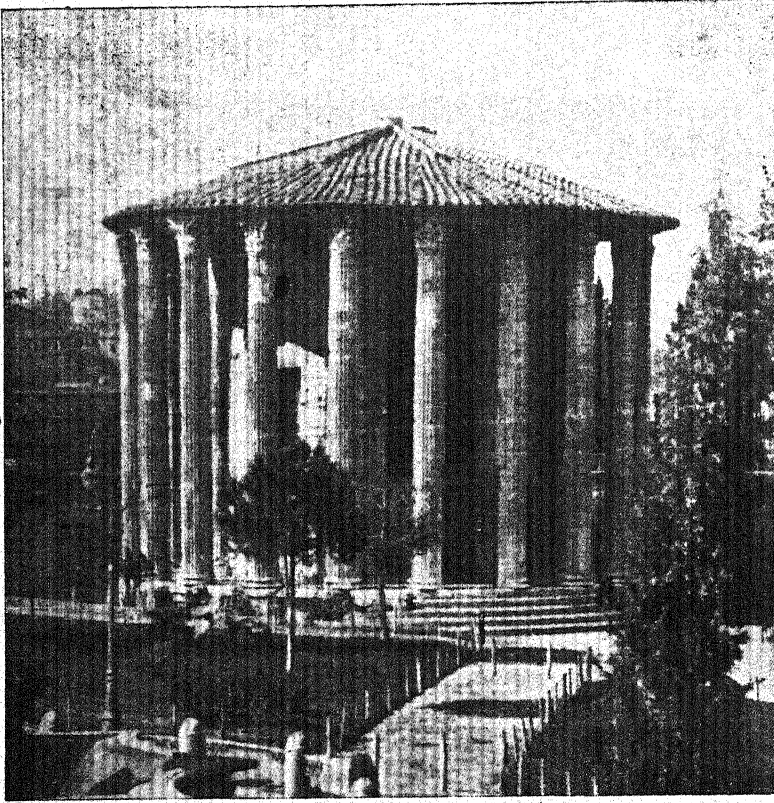
वृत्ताकार ढंग का एक रोमन देवालय—रोम में वेस्टा का मंदिर।

इटालियन 'प्लाज़ा', अंग्रेज़ी 'मार्केट-प्लेस' अथवा हिन्दुस्तानी 'चौक' की भाँति नगर का एक खुला केन्द्रीय भाग होता था, जहाँ लोग आपस में मिलते, सौदा ख़रीदते या राजनीतिक प्रदर्शनों के लिए एकत्रित होते थे। रोम नगर में कई फोरम थे, जो रोमन नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए गए थे। अपने चारों ओर बने भवनों के द्वारा वे न केवल नगर-निवासियों के धर्म, क़ानून और व्यापार की ही झलक देते बल्कि नगर के उस सामूहिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं, जिसका स्वरूप वहाँ राजतंत्र, गणतंत्र और साम्राज्य सभी प्रकार के शासनों के अन्तर्गत एक-सा ही रहा है।

रोमन फोरमों में सबसे प्राचीन "फोरम रोमेनम" था, जो कि अमर-पुरी रोम की सात पहाड़ियों के बीच की घाटी में स्थित था और जो पहले रथों और घोड़ों के दौड़ने के लिए और उन प्रतिद्वन्द्विताओं के काम में आता था जो आगे चलकर विशालकाय 'एम्फ़ीथिएटरों' या रंगशालाओं में हुआ करते थे। मुख्य-मुख्य सार्वजनिक भवन इसी स्थान के चारो ओर बने हुए थे। रोमन वैभव के गौरवपूर्ण दिनों में विजय-स्तंभों और मूर्त्तियों से सुसज्जित तथा बरामदों, स्तम्भपंक्तियों, मन्दिरों, बैसि-लिकाओं और दूकानों से घिरा हुआ यह स्थान सचमुच ही बड़ा शानदार मालूम पड़ता होगा। रोम के दूसरे फोरमों का नाम ट्राजान (यही फ़ोरम सबसे बड़ा था), जूलियस सीज़र, ऑगस्टस, वेस्पैसियन और नर्वा नामक रोम के महान् योद्धाओं के नाम पर रखा गया था। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के फोरम भी रोम में थे, जो "फोरम बोएरियम" कहलाते थे और जहाँ विशेष प्रकार के बाज़ार लगते थे। रोम और रोम-राज्य के प्रान्तों में पाये जानेवाले फोरम वहाँ की सुनिश्चित नगर-योजना के आरम्भिक उदाहरण हैं और वे रोम-साम्राज्य के इतने दूरवर्त्ती सीमान्त भागों में भी पाए गए हैं, जैसे कि सीरिया में पामाइरा, सामारिया, ऐण्टीओक और डमस्कस में; एशिया माइनर में पर-गामॉन में, उत्तरी अफ़्रीका में टिमगाड और टेबेस्सा में, और

कालान्तर में, जिन प्राकृतिक बाधाओं के कारण आरम्भिक रोमवासी कष्ट पा रहे थे उन्हें बाद की शताब्दियों के रोमन इञ्जीनियरों की रचनात्मक प्रतिभा ने दूर कर दिया। रोमन लोग एकदम व्यावहारिक प्राणी थे और फलस्वरूप रोमन स्थापत्य-कला आदि से अन्त तक मुख्यतः उप-योगितासूचक हो रही है। ग्रीक लोगों की स्थापत्य-कला की भाँति वह उन बन्धनों को तोड़कर, जिन्होंने उसे माँ धरित्री से बाँध रक्खा था, उच्च अनुभूतियों के गगन-प्रदेश में अपने पंख नहीं फैला सकी। रोमन फोरम, देवालय, बैसिलिका, स्नानगृह, रंगशालाएँ, कौतुकगृह, विजय-द्वार, स्तम्भ-पंक्तियाँ और प्रासाद आदि, बावजूद इसके कि उन पर मूर्त्ति-कला और सजाव-सम्बन्धी कारीगरी का एक मुलम्मा चढ़ाया गया है, प्रमुख रूप से उपयोगितावादी ही दृष्टिगोचर होते हैं—उनका निर्माण किसी-न-किसी राजनीतिक या नागरिक आवश्यकता के कारण ही हुआ था।

फोरम, जो स्पष्टतः उसी शब्द से निकला है जिससे संस्कृत के 'पुरम्' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, फ्रेंच 'प्लास',

इङ्गलैण्ड में सिल्चेस्टर तथा अन्य स्थानों में। इन सभी फोरमों में राहगीरों को सूर्य के ताप से बचाने के लिए स्तंभ-पंक्तियों से युक्त गलियाँ होने के चिह्न पाए जाते हैं।

रोमन देवालय इट्रस्कन और ग्रीक देवालयों के ढाँचों को मिलाकर बनाए गए हैं। वे साधारणतया चतुष्कोण आकार के हैं, साथ ही ग्रीक मन्दिरों की भाँति उनके चारों ओर स्तम्भ-पंक्तियाँ भी पाई जाती हैं। मन्दिर के मुख्य प्रवेश-द्वार की सीढ़ियाँ बाजू में ठोस पत्थर की मज़बूत नीची दीवालों से आबद्ध हैं, जिनके सिरे पर प्रायः अनेक मूर्त्तियाँ लगी रहती हैं। इस प्रकार के सबसे प्रसिद्ध देवालय रोम के 'फार-चूना विराइलिस' और 'मार्स अल्टोर', नीम्स के 'मेज़ों कारे', सीरिया, के बालबेक नामक स्थान का महान् देवालय, पामीरा का सूर्य का मन्दिर और स्पलाटो का इस्कूलेपियस का विख्यात मन्दिर है।

एक दूसरे प्रकार के देवालय भी पाये जाते हैं, जो वृत्ताकार या बहुकोणीय ढाँचे पर बने होते थे। बहुत सम्भव है कि ये देवालय इट्रूरियावासियों के प्राचीन देवालयों के नमूनों पर बनाए गए हों। इस प्रकार के मन्दिरों के प्रमुख उदाहरण रोम के वेस्टा और मेटर मेटूटा के मन्दिर तथा सुप्रसिद्ध पैन्थियन, स्पलाटो का जुपिटर का मन्दिर तथा बालबेक का वीनस, टिवोली का वेस्टा और नीम्स का डायना देवी का मन्दिर एवं अन्य वे अनेक देवालय हैं जो कि स्थापत्य-कला की दृष्टि से इनसे कम महत्त्व के हैं। इन सबमें रोम का "पैन्थियन" निस्सन्देह सबसे अधिक प्रभावशाली है और आज भी उत्तम सुरक्षित अवस्था में है। इस देवालय का आकार भीमकाय है। उसकी भव्यता तथा रहस्य-भावना से मानव-हृदय अभिभूत हो जाता है। बहुत
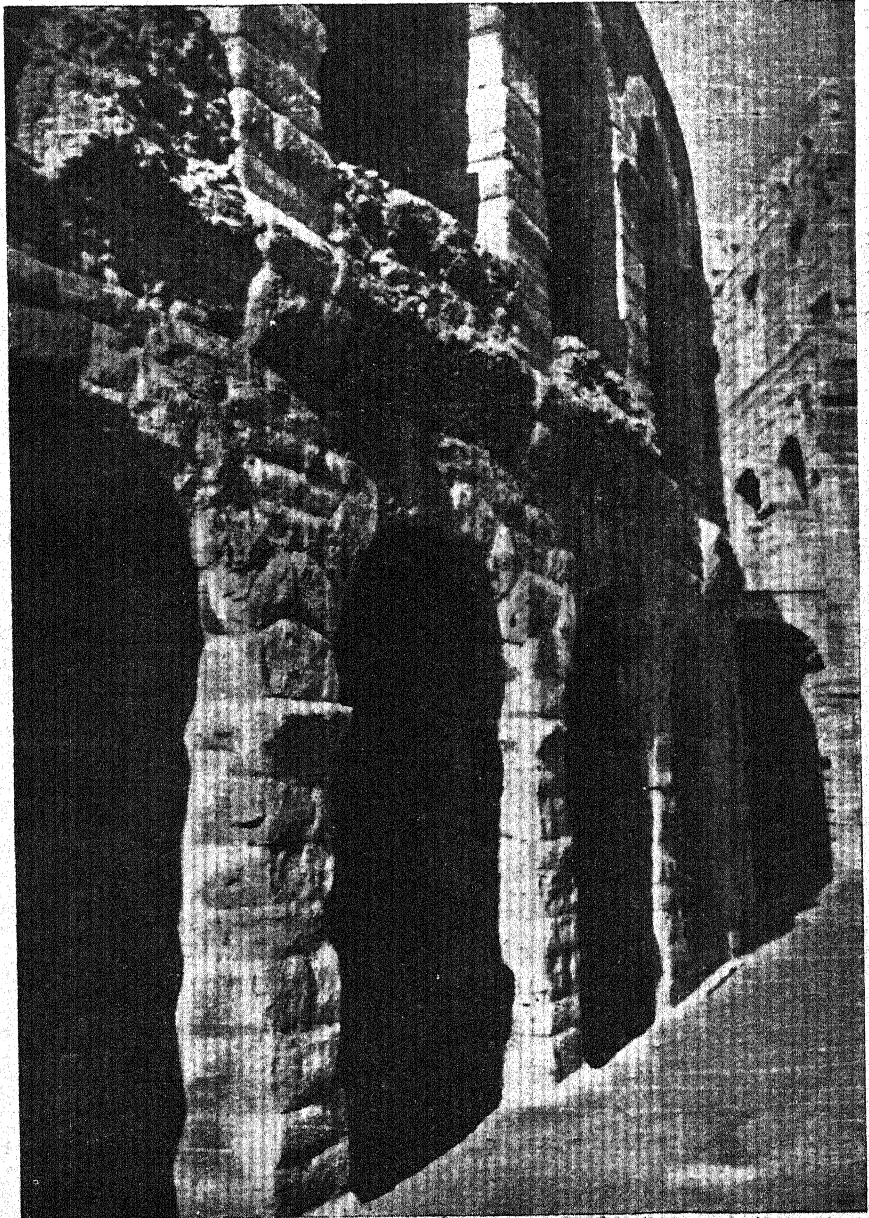
(दाहिनी ओर)
वेरोना के विशाल एम्फ़ी-थिएटर के बाहरी पृष्ठ-भाग की स्तंभ-पंक्तियों का एक दृश्य

सम्भव है कि यह विशाल देवालय जूलिया-वंश के पारिवारिक देवताओं को उत्सर्ग किया गया हो। इस देवालय का विशाल गुम्बद आकाश के सम्पुटित छत्र के सदृश जान पड़ता है। यह मंदिर नाना प्रकार की लाखों स्थापत्य-कृतियों से जी भरकर सजाया गया है और समूची इमारत का दृश्य बड़ा ही भव्य है। पैन्थियन में रोशनी के लिए जो अद्भुत व्यवस्था की गई है उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध अंग्रेज़ स्थापत्य-विशारद सर बैनिस्टर फ्लेचर अत्यन्त उल्लासपूर्वक लिखते हैं—"यह बहुत ही प्रभावशाली और गम्भीर असर डालता है। इस विशाल नेत्र (केन्द्रीय गुम्बद के सिरे पर गोलाकार खुला झरोखा) के निर्माण का लाक्षणिक अर्थ यह हो सकता है कि सब देवताओं के इस देवालय में पूजा ऐसे भवन में हो जिस पर स्वर्ग का वितान खुला हुआ हो। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इस अकेले वातायन से ही इस इमारत के सभी भाग उस समय भी पर्याप्त रूप से प्रकाशित रहते हैं जबकि इसके काँसे के विशाल द्वार बाहर छा रही धूप के प्रकाश का प्रवेश होने देने के लिए खुले नहीं रहते।"

(ऊपर) पाम्पिआई नगर की एक गली का भग्नावशेष।
(नीचे) खुदाई में निकला वहीं का एक मकान (पुनर्निर्मित)।

रोमन सम्राट् हैड्रियान के काल में पैन्थियन की निचली मंज़िल में बाहर की ओर सफ़ेद चमकनेवाले पैंटीलिया के संगमर्मर के टुकड़े लगे हुए थे और ऊपर की दोनों मंज़िलों की दीवालों पर एक प्रकार का पलस्तर लगा था। मन्दिर का गुम्बद, जिसके निचले हिस्से में सीढ़ियाँ-सी बनी हुई थीं, मुलम्मा किये हुए काँसे की चद्दरों से मढ़ा हुआ था। ६५५ ई० में ये चद्दरें हटाकर कुस्तुन्तुनियाँ भेज दी गईं और उनके स्थान पर सीसे की चद्दरें लगा दी गईं। पैन्थियन के अग्रगृह में जो अष्टकोण अलिन्द बना हुआ है, उसमें नक़्क़ाशी करके काँसे का 'दैत्य-मर्दन' अथवा टाइटन्स (दैत्यों) एवं दूसरे देवताओं के युद्ध का एक भव्य मूर्त्ति-चित्र अंकित किया गया था और उसके पीछे चौड़ी अटारी में काँसे की भव्य मूर्त्तियों के समूह आश्रित थे। राज्यशक्ति और धार्मिक शक्ति में कितने ही परिवर्त्तनों के बावजूद इतनी शताब्दियों बाद भी यह देवालय अभी तक सुरक्षित बच रहा है और आज भी धार्मिक उपासना के काम में आता है। किन्तु आज उसमें जिस धर्म की उपासना की जाती है वह तथाकथित "मूर्त्तिपूजक विधर्मियों की देवमण्डली" के अधिक आकर्षक और चित्र-विचित्र धर्म के बजाय ईसाइयों के एक ईश्वर की उपासना का धर्म है।
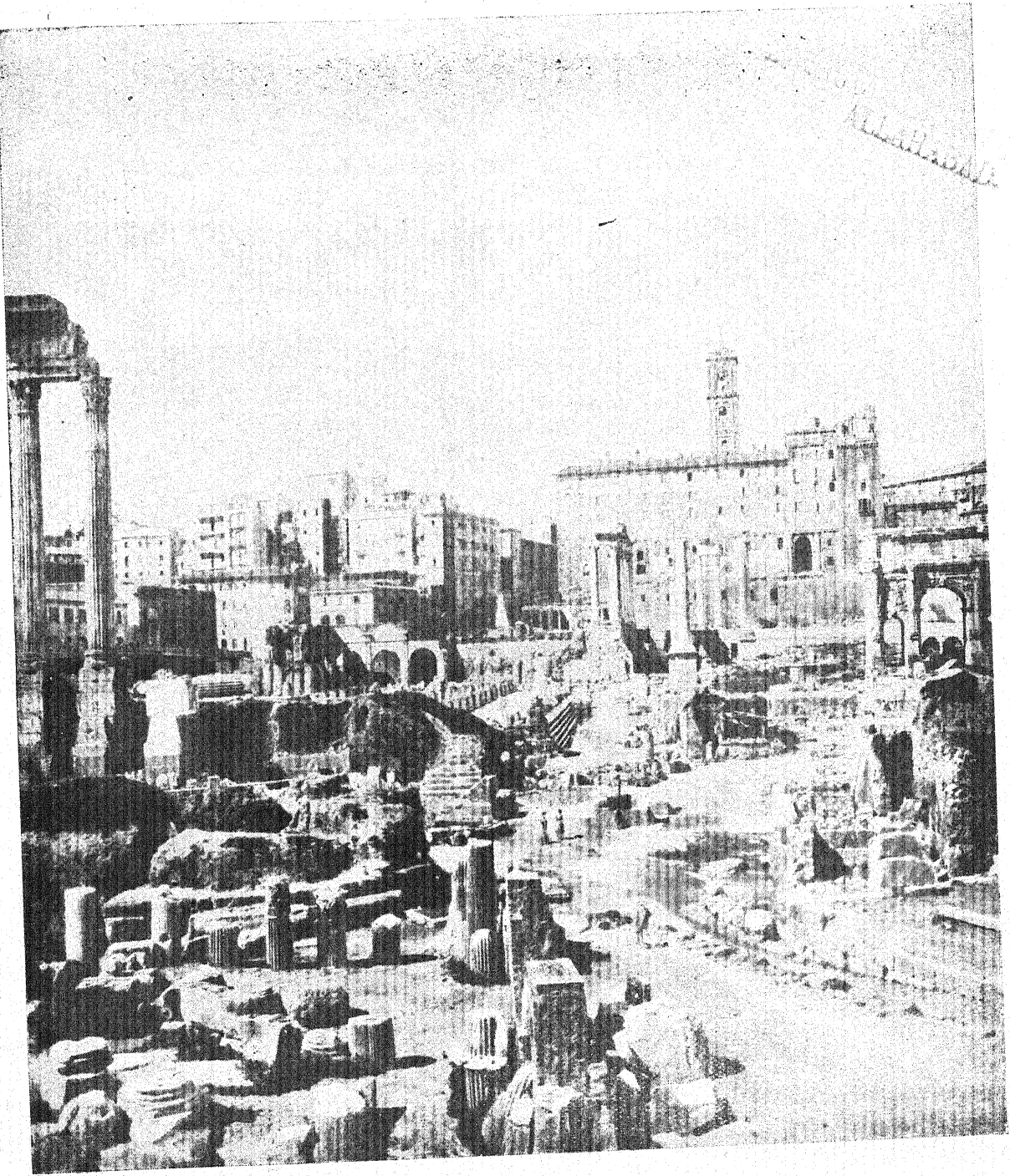
रोम के सुप्रसिद्ध 'फोरम रोमेनम' नामक चौक के खँडहर

१८७० में खुदाई करने पर इस फोरम की सुंदर इमारतों के यही टूटे-फूटे अंश निकले थे, जो रोम के भव्य अतीत की याद दिलाते हैं। अपनी असली दशा में यह स्थान कैसा दिखता रहा होगा इसका एक कल्पना-चित्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है।
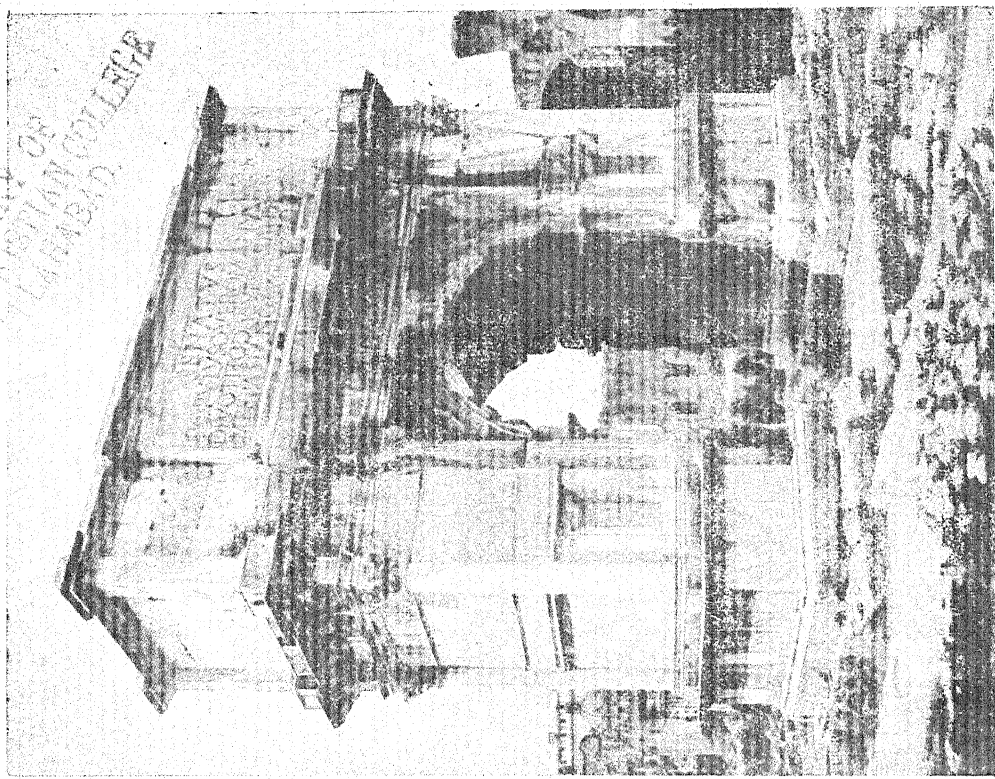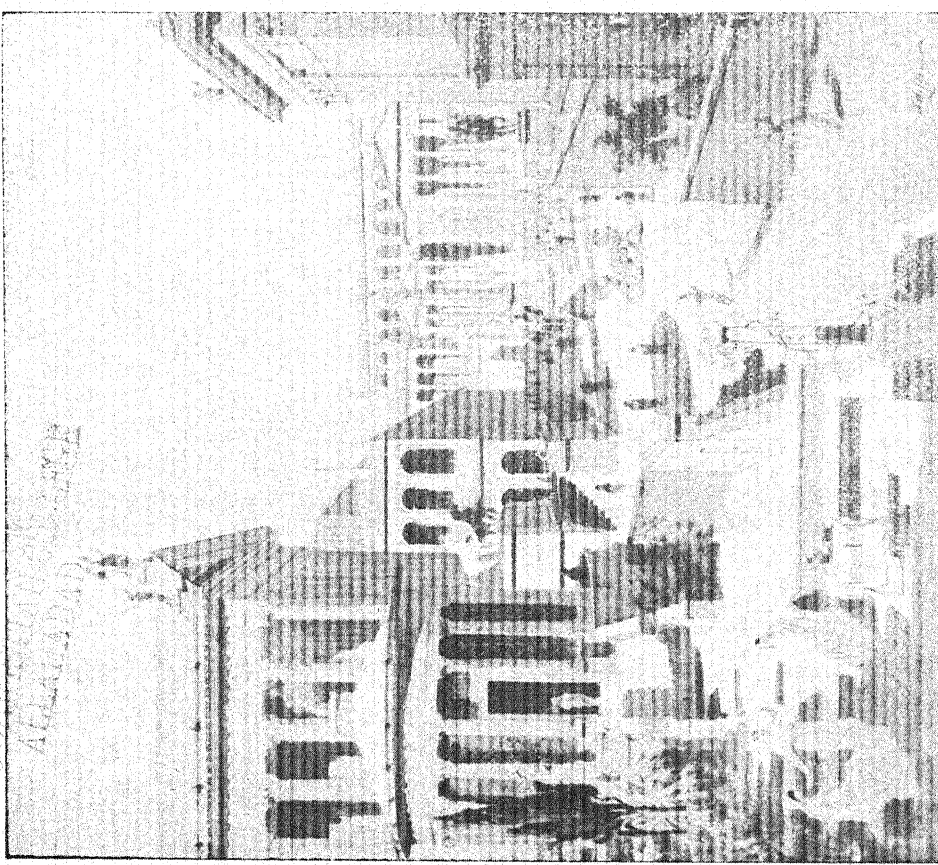
'फोरम रोमेनम' अपने गौरव के दिनों में कैसा दिखता रहा होगा इसकी एक कल्पना। इसी फोरम का एक और काल्पनिक दृश्य अगले पृष्ठ पर देखिए।

'फोरम रोमेनम' में स्थित टाइटस का स्मारक विजय-द्वार।
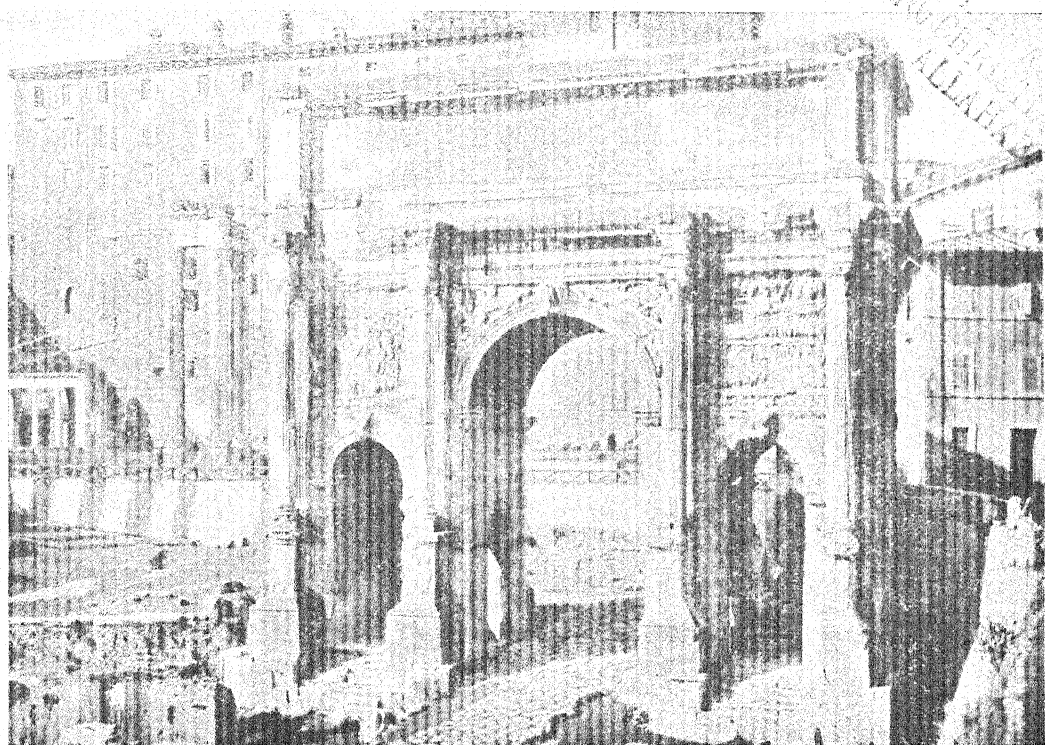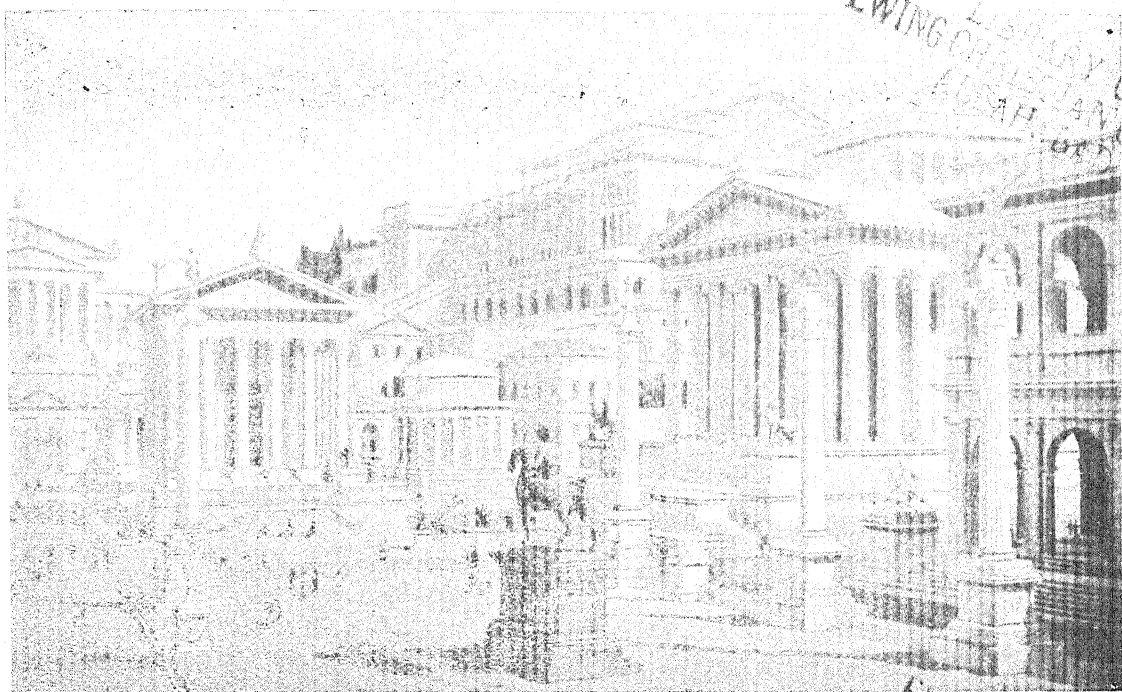
(ऊपर) 'फोरम रोमेनम' नामक रोम के सुप्रसिद्ध चौक का दक्षिणी भाग अपनी असली हालत में ऐसा ही भव्य दिखता रहा होगा। यह रोम के नागरिक जीवन का प्रधान केन्द्र-स्थान था। इसकी अनेक इमारतों के खण्डहर आज भी खड़े हैं। (नीचे) रोम की एक और सुंदर इमारत—'सेप्टीमियस सेवेरस का विजय-द्वार'।
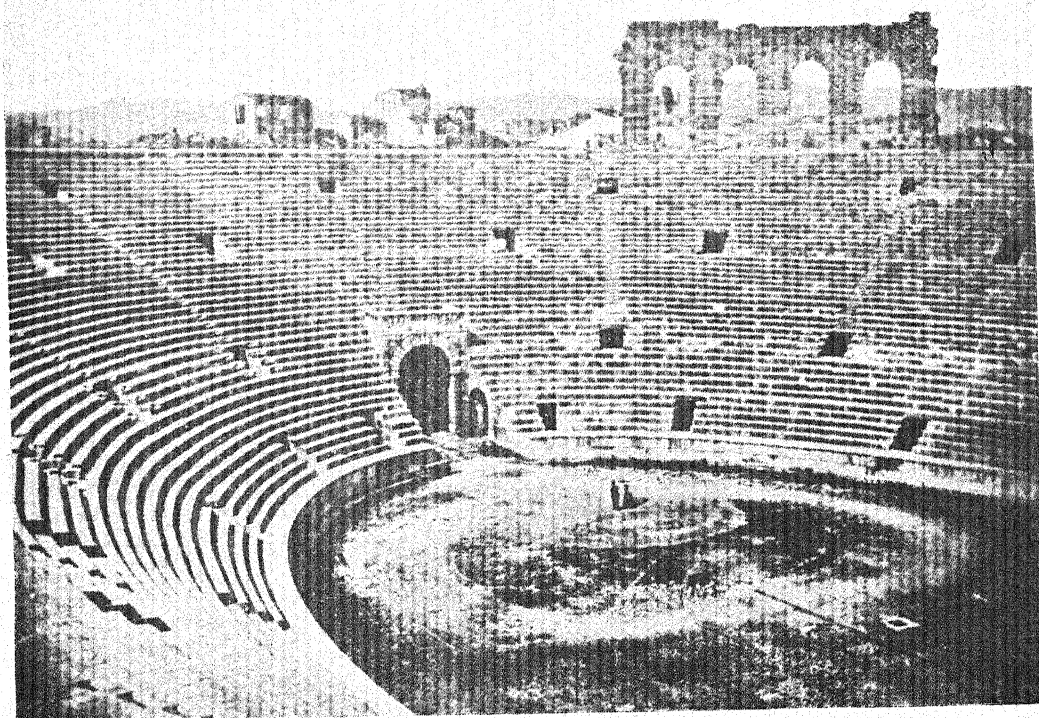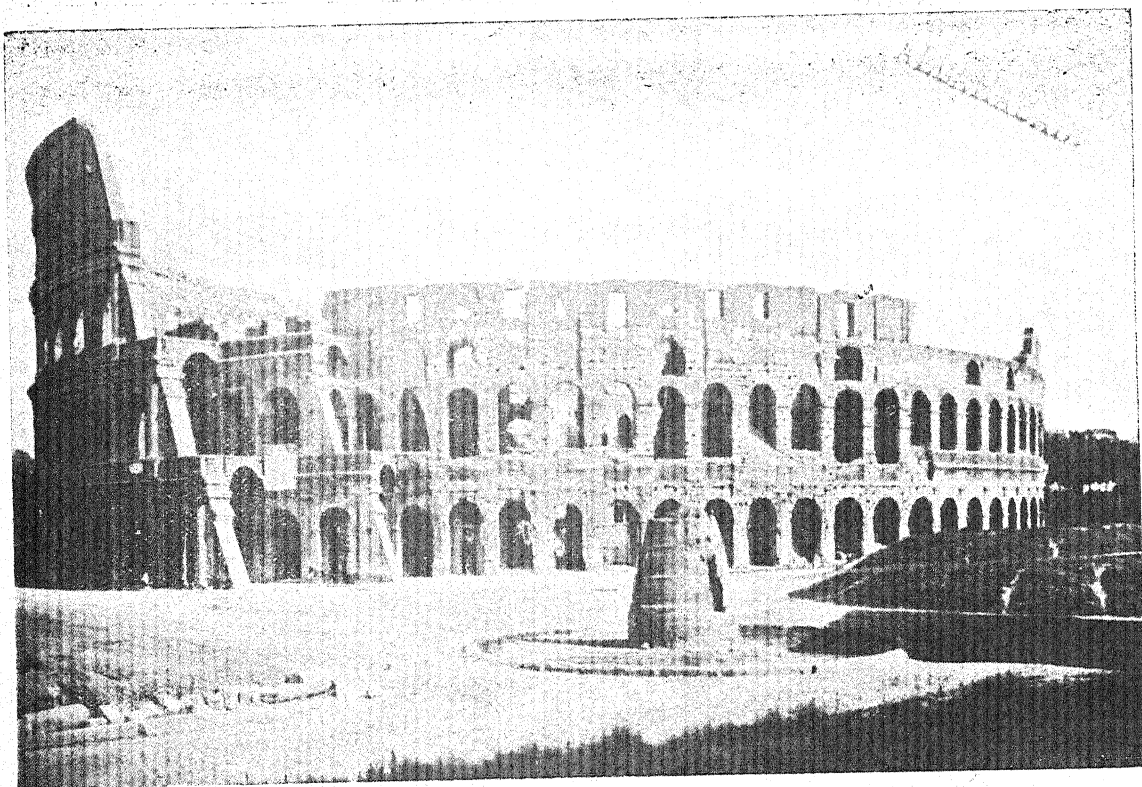
(ऊपर) रोम के संसार-प्रसिद्ध एम्फीथिएटर 'कलीशियम' के भग्नावशेषों का बाहरी दृश्य । (नीचे) वेरोना के प्रसिद्ध एम्फीथिएटर के भीतर का दृश्य, जिससे यह जाना जा सकता है कि इन रंगशालाओं में दर्शकों के बैठने के लिए कैसी बैठकें बनी रहती थीं ।

६०८ ई० में पोप बोनीफेस चतुर्थ ने इसे शहीदों की मंडली की प्रसिद्ध वीर आत्मा सान्ता मारिया की स्मृति में उत्सर्ग कर दिया था और कैटेकुम्ब नामक समाधिगृहों से शहीदों की अस्थियों के ढेर लाकर यहाँ रखवाए गए थे। अब देवालय का यह भाग सान्ता मारिया रोटुण्डा के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी विधर्मी प्रतिमाएँ, संगमर्मर का बाह्य आवरण, इन्द्र-धनुष की चमकवाला काँसे का पत्तर और आँखों में चका-चौंध उत्पन्न करनेवाला सोने का मुलम्मा अब वहाँ से हटा दिया गया है। किन्तु फिर भी इसकी नितान्त सरल रचना और गढ़न के सामंजस्य के कारण सारा संसार बरबस इस इमारत की प्रशंसा करता है।

बैसिलिका, जो न्यायालय और क्रयविक्रय के केन्द्रों का काम देते थे, अपनी केन्द्रीय स्थिति से इस बात को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि प्राचीन रोम में क़ानून और व्यापार को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ये इमारतें, जो एक विशेष प्रकार की हैं, प्राचीन काल के और ईसाई स्थापत्य के बीच की कड़ियाँ हैं। बैसिलिका, जो सम्भवतः ग्रीक मन्दिर का रोम में विकसित रूप था, सामान्यतया एक ऐसे ढाँचे के अनुसार बनाया जाता था जिसका आकार एक असम चतुर्भुज का होता था। इसकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी। इसकी लम्बाई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक खम्भों की दो या चार क़तारें बनी हुई होती थीं, जिनके द्वारा तीन या पाँच गलियाँ बन जाती थीं। ऊपरी भाग में गैलरियाँ और स्तंभपंक्तियाँ बनी रहती थीं, जिन पर छत टिकी होती थी। अन्दर आने का फाटक बग़ल में होता था या एक सिरे पर बना रहता था। न्यायाधीशों के बैठने का स्थान दूसरे सिरे पर एक चबूतरे पर होता था, जो साधारण-तया अर्द्ध-वृत्ताकार होता था और कभी-कभी स्तम्भपंक्तियों या नीचे झुके हुए छज्जे के द्वारा मुख्य भवन से अलग होता था। मंच के चारों ओर असेसरों के बैठने के लिए आसन होते थे। बीचोबीच में कुछ ऊँचाई पर 'प्रीटर' या न्यायपति का आसन होता था और सामने की ओर वेदी होती थी, जहाँ पर कार्यारम्भ के पूर्व बलि चढ़ाई जाती थी। यह इमारत, जो साधारणतया लकड़ी की छत से ढकी होती थी, कभी-कभी अगल-बगल खुली भी रहती थी और उसका बाहरी भाग भीतरी भाग की अपेक्षा सादा और बिना सजावट का होता था। रोम के सबसे प्रसिद्ध बैसिलिका ट्राजान और कान्स्टैन्टाइन के थे। उनके क्षेत्रफल क्रमशः ३८५×८७ फ़ीट तथा २६५×८३ फ़ीट थे। अन्य बैसिलिका उन सभी स्थानों पर मिलते हैं, जहाँ-जहाँ रोमन साम्राज्य का झण्डा गड़ा था—उदाहरणार्थ ट्रेव्स, टिमगाड और सिल्चेस्टर (इंग्लैण्ड) में, क्योंकि जहाँ-कहीं रोमनों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था वहाँ पर न्याय की व्यवस्था के लिए बैसिलिका बनाना उनकी नगर-निर्माण-योजना का एक महत्त्वपूर्ण अंग होता था।

साम्राज्यवादी रोम द्वारा विशाल सार्वजनिक 'थर्मी' या स्नानागारों का निर्माण सम्भवतः ग्रीक-व्यायामशालाओं के विकास की ही नैसर्गिक पराकाष्ठा का रूप था और वे आज अपनी भग्नावस्था में भी प्रमोदप्रिय रोमन जनता की दिनचर्या और प्रथाओं की स्पष्ट झलक देते हैं। एम्फ़ीथिएटरों की भाँति वे रोमन सभ्यता की विशेषताओं में से हैं। इन स्नानागारों के प्रमुख भग्नावशेष रोम और पाम्पिआई में मिलते हैं। १६ वीं शताब्दी में, जबकि वे आज की अपेक्षा अधिक सुरक्षित थे, पैलेडिओ द्वारा तैयार किए गए रेखाचित्रों से उनकी प्राचीन महानता के विषय में बहुत-कुछ जाना जा सकता है। ये स्नानागार केवल विलासपूर्ण स्नान और जलक्रीड़ा के लिए ही नहीं बनाए गए थे, बल्कि समाचार-संकलन और गपशप के लिए भी उनका उपयोग होता था। वे उन दिनों आजकल के एक क्लब का काम देते थे। वे सार्वजनिक जीवन के एक मिलन-स्थान के समान थे। इसके अतिरिक्त वे भाषण, शारी-रिक व्यायाम, खेल-कूद के लिए भी काम आते थे। वास्तव में वे साम्राज्यवादी रोम के दैनिक जीवन के एक प्रमुख अंग बन गए थे। उनके भीतर जाने के लिए कभी-कभी लगभग आधा पैसा प्रवेश-शुल्क देना पड़ता था, लेकिन आगे चलकर उन सम्राटों ने, जो कि लोकप्रिय होना चाहते थे, साधारण जनता के लिए उनमें निःशुल्क प्रवेश की आज्ञा दे दी थी।

इन सार्वजनिक स्नानगृहों के प्रबन्ध के लिए एक संचा-लक, एक प्रवेश-शुल्क एकत्र करनेवाला और एक दरवाज़ों की रक्षा करने के लिए प्रहरी होता था। दूसरे कामों के लिए सेवकों का एक बड़ा दल होता था, जिसमें उबटन लगाने या मालिश करनेवाले, नाख़ून काटने और रँगनेवाले, पानी गर्म करनेवाले, नाई, रोशनी जलानेवाले तथा ऐसे सैकड़ों ग़ुलाम जुटे रहते थे, जिनके द्वारा स्नान अत्यधिक विलासपूर्ण मनबहलाव का साधन बन जाता था।

आम तौर पर ये स्नानागार एक ऊँचे मंच पर बनाए जाते थे और उनके चारों तरफ़ एक चहारदीवारी होती थी। उसके नीचे प्रबन्ध-विभाग के लिए भट्ठे और कमरे होते थे। इसके तीन प्रमुख विभाग इस प्रकार थे—

(क) विशाल मध्यवर्ती भवन—इसमें 'टेपीडेरियम' या उष्ण विश्रामगृह, 'कैलिडेरियम' या गर्म जल से स्नान के लिए गर्म कमरा, 'सुडेटोरियम' या सबसे गर्म कमरा,

'फ्रिजिडेरियम' या ठंडा कमरा (जिसमें 'पिसाइना' या तैरने के लिए जलाशय भी बना रहता था) आदि हिस्से होते थे। ये सब नहाने से संबंध रखते थे और आज के तुर्की हम्माम के आयोजन से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे। इनके अलावा इनमें 'एपोडाइटेरिया' या वस्त्रागार तथा 'अङ्कटोरिया' या तेल तथा उबटन लगाने के कमरे भी थे, जहाँ कि 'अलिप्टोर' स्नान करनेवालों की देह मलता, उबटन लगाता और 'स्ट्राइजिलस' से रगड़कर उनके शरीर का मैल छुड़ाता था। कभी-कभी इस केन्द्रीय भवन के साथ 'स्फीयरीस्टेरियम' या गेंद खेलने का कमरा, एक पुस्तकालय और एक छोटा-सा नाट्यगृह भी जुड़ा रहता था।

(ख) एक विस्तृत खुला आँगन—यह केन्द्रीय भवन के चारों तरफ़ पार्क की तरह का एक घेरा होता था, जिसमें वृक्ष लगे रहते थे। यह मूर्त्तियों तथा फ़ौवारों से सजाया रहता था। इसका एक भाग व्यायामशाला के उपयोग में आता था, जिसके अगल-बग़ल में ऊँचाई पर दर्शकों के लिए बैठने के आसन होते थे। यहाँ पर कुश्ती, दौड़, उछल-कूद, घूँसेबाज़ी जैसे व्यायाम के खेल होते थे।

(ग) कमरों की बाहरी शृंखला—इस भाग में व्याख्यान के कमरे तथा दार्शनिकों, कवियों एवं राजनीतिज्ञों के एकत्रित होने के लिए कमरे बने रहते थे। साथ ही इनसे सटे हुए स्तंभों की पंक्तियोंवाले बरामदे, जो कि रोम के सभी खुले हुए स्थानों की एक विशेषता थे, लोगों की धूप से रक्षा करने का काम देते थे। कृत्रिम नहर के जल से भरे जानेवाले एक बहुत बड़े जल के बाँध द्वारा ऊपर बताए गए स्नानागार के गर्म और ठंडे हम्मामों को जल पहुँचाया जाता था। दूसरे कमरे दूकानदारों को किराये पर उठा दिये जाते थे, या स्नानागार के विशाल प्रबन्ध-विभाग में काम करनेवाले असंख्य दासों के काम में आते थे।

रोम के सबसे प्रसिद्ध स्नानागार काराकाला और डायोक्लीटियन के थे। पहले स्नानागार में १६०० स्नान करनेवालों के लिए प्रबन्ध था और यद्यपि वह इस समय भग्नावस्था में है फिर भी उसके विभिन्न भागों की स्थिति का अब भी पता लगता है। यह स्नानागार २० फ़ीट ऊँचे एक चबूतरे पर बना था, जो कि लम्बाई में हर दिशा में १ मील के पाँचवें भाग से अधिक था। इसका केन्द्रीय भवन, जो कि केवल स्नान के लिए ही उपयोग में आता था, ७५० फीट लम्बा और ३८० फ़ीट चौड़ा था, अर्थात् लन्दन के वेस्टमिन्स्टर पैलेस के बराबर अथवा वहाँ के सुप्रसिद्ध ब्रिटिश म्यूज़ियम या ब्रिटिश न्यायालय की इमारत के आकार से कहीं बड़ा था। इसका सारा फ़र्श नक़्क़ाशी के चित्रों से भरा था और दीवालें एक विशेष प्रकार के प्लास्टर को रँगकर बनाए गए चित्रों से सजाई गई थीं। स्नानागार के विशालकाय स्तम्भ ग्रेनाइट, पोरफ़ायरी, अल्बैस्टर तथा ईजियन द्वीपसमूह में पाये जानेवाले अन्य दुष्प्राप्य संगमरमर से बनाए गए थे। इन मण्डपों में प्राचीन-काल की कई सर्वोत्तम कृतियाँ प्रतिष्ठापित थीं, जो ग्रीस से लाई गई थीं अथवा रोम में ग्रीक कलाकारों द्वारा निर्मित्त हुई थीं। पंद्रहवीं शताब्दी में योरप में पुनरुज्जीवन-काल में इन सार्वजनिक स्नानागारों की खुदाई होने पर उनमें से बहुत-सी प्राचीन काल की सर्वोत्तम कृतियों के नमूने खोद निकाले गये थे और वे हटाकर रोम के वेटिकन अथवा दूसरे संग्रहालयों में पहुँचा दिए गए थे, जहाँ से बाद में वे योरप के दूसरे संग्रहालयों में पहुँचा दिए गए। डायोक्लीटियन के स्नानागार की साधारण रचना काराकाला के स्नानागार से मिलती-जुलती है। उसमें ३ हज़ार व्यक्तियों के स्नान का प्रबन्ध था।

इन सार्वजनिक स्नानागारों के, जहाँ कि लोग प्रत्येक प्रकार के व्यसन के लिए एकत्रित होते थे, अबाध स्वच्छन्दता और कामुकता से युक्त जीवन के परिणामस्वरूप आरम्भिक ईसाइयों के ज़माने में उन पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। ५ वीं शताब्दी में हूणों द्वारा रोम में जल लानेवाली कृत्रिम नहरों के नष्ट-भ्रष्ट कर दिए जाने तथा जनसंख्या घट जाने के कारण उनका इस्तेमाल दिनोदिन कम होता गया और उनकी उपयोगिता जाती रही। आगे चलकर तो ये स्नानागार मध्ययुग और पुनरुज्जीवन-काल के शिल्पियों के लिए पत्थर की खदानों का काम देने लगे।

रोमन नाट्यगृहों का ढाँचा ग्रीक नमूनों के ढंग पर ही बनाया गया था। उन्हें रोमन रुचि के अनुकूल बनाने के लिए उनमें केवल साधारण परिवर्त्तन कर दिए गए थे। इस प्रकार दर्शकों के बैठने का स्थान, जिसमें एक के ऊपर दूसरी गैलरियाँ बनी रहती थीं, केवल अर्द्धवृत्त का ही रहने दिया गया। ग्रीक नाट्यगृहों का केन्द्रीय भाग, जो कि नर्त्तक और गायक पात्रों के लिए निश्चित रहता था, दर्शकों के बैठने के स्थान का ही एक अंग हो गया। यह रोमन व्यवस्थापकों तथा उच्च श्रेणी के लोगों के बैठने लिए सुरक्षित रहता था। स्टेज अब चौड़ा और ऊँचा हो गया। रोमन नाट्यगृह केवल पहाड़ियों को काटकर ही नहीं बनते थे, बल्कि कंकरीट की मेहराबें खड़ी करके भी उनकी रचना होती थीं। ये मेहराबें अपने ऊपर टिकी हुई बैठने के आसनों की पंक्तियों को थामे रहती थीं। इन पंक्तियों के नीचे अनेक बरामदे होते
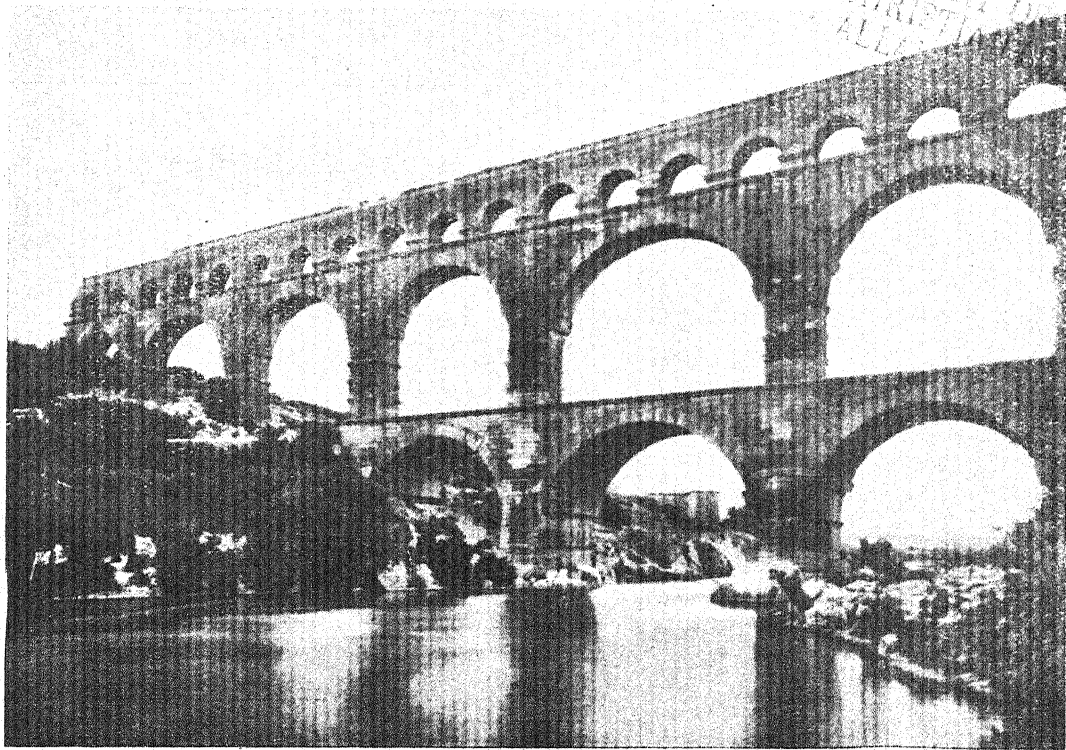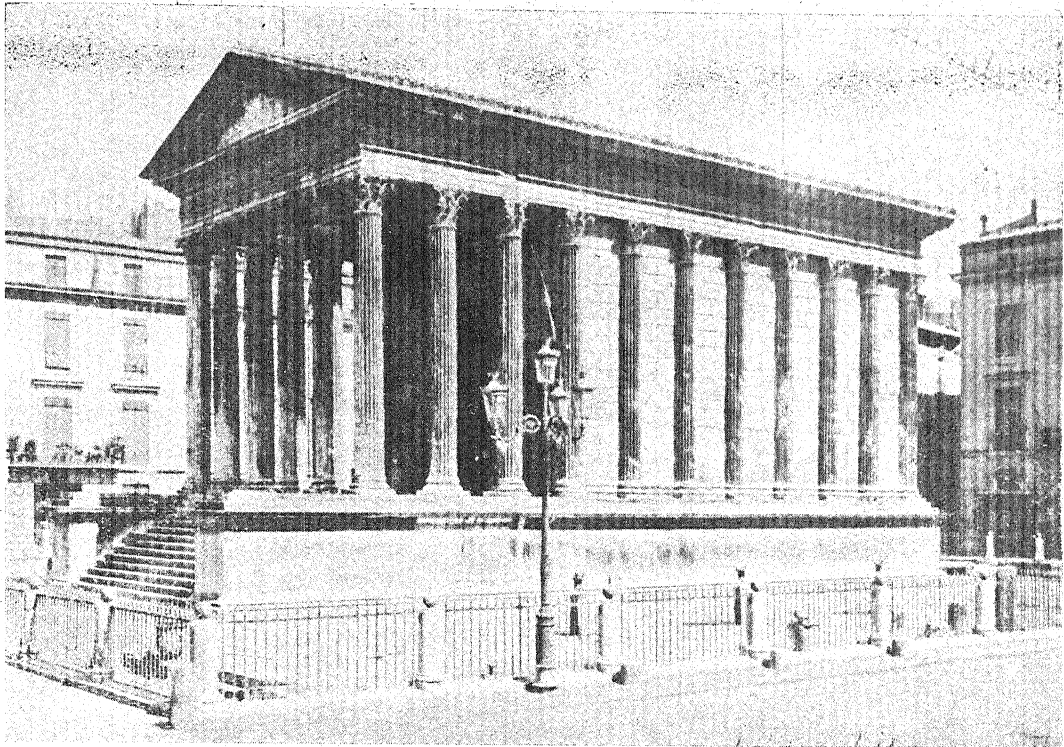
(ऊपर) फ्रान्स में नीम्स नामक स्थान में स्थित रोमन युग की एक भव्य इमारत—'मेज़ों कारे'। यह सबसे उत्तम रूप से सुरक्षित रोमन इमारतों में है। (नीचे) नीम्स के समीप रोमन लोगों द्वारा बनाया गया एक तिमंज़िला जलवाहक सेतु या एक्वेडक्ट। ऐसे सेतु बनाने में रोमन लोग बड़े पटु थे।
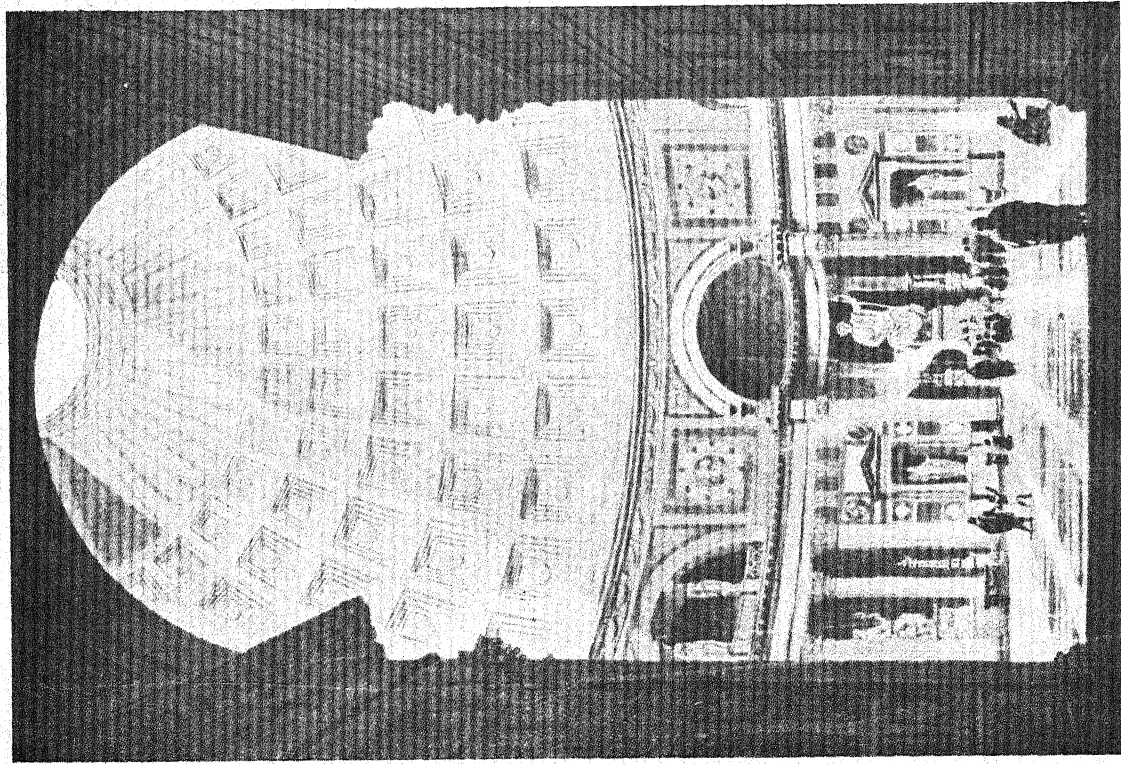
ईसाई प्रभाव में आने के पहले रोमन काल में रोम का प्रसिद्ध पैंथियन नामक मंदिर भीतर से कैसा दिखता रहा होगा इसका एक काल्पनिक चित्र। प्रकाश आने के लिए छत में बनाए गए खुला झरोखा भी दिखाई पड़ रहा है।
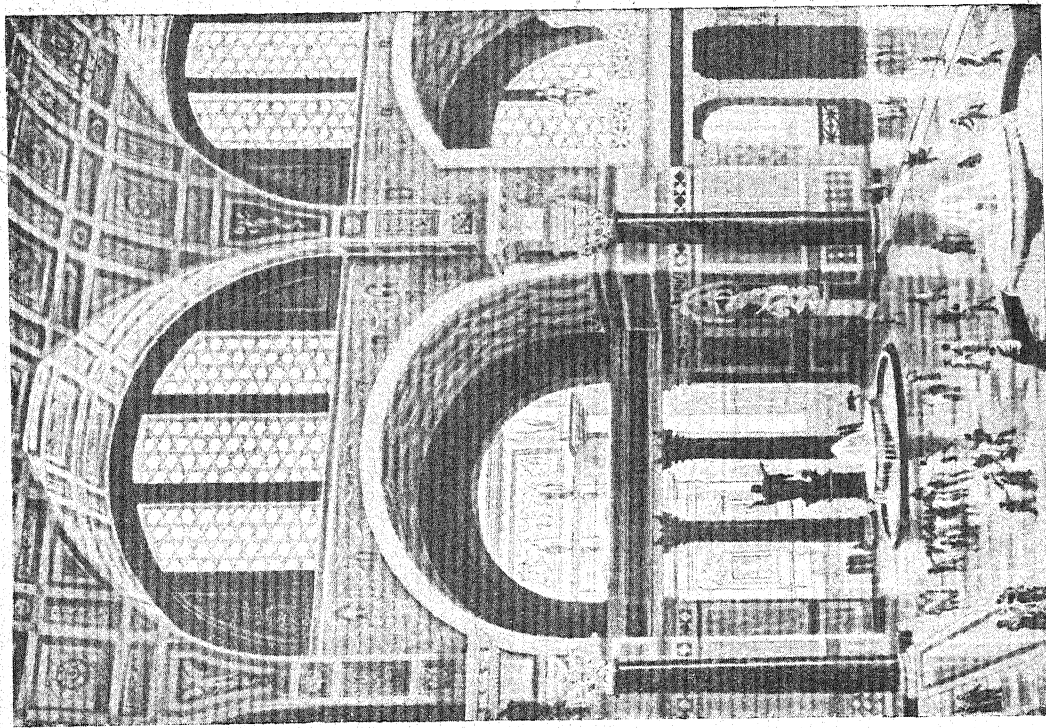
रोम में स्थापित काराकाला का सुप्रसिद्ध स्नानागार या हमाम अपनी असली हालत में कैसा दिखता रहा होगा इसकी एक कल्पना। यह हमाम के भीतर का दृश्य है।

थे, जो कि एकाएक वर्षा होने पर बचाव का काम देते थे।

फ़्रान्स के दक्षिण में आरेन्ज नामक स्थान में बना हुआ रोमन नाट्यगृह, जो कि अब भी पूर्ववत् बना हुआ है, कुछ अंशों में पहाड़ों के भीतर काटकर बनाया गया है और कुछ अंशों में बाहर से उठाया गया है। इसका व्यास ३४० फ़ीट है। इसमें ७ हज़ार दर्शक बैठ सकते हैं। स्टेज २०३ फ़ीट चौड़ा और ४५ फ़ीट ऊँचा है। रोमनों के दूसरे नाट्यगृहों के उदाहरण रोम का मार्सेलस, एथेन्स में हीरोड्स एटिकस का ओडियन, तथा आस्टिया, पाम्पिआई, टाओ-रमीना, टिमगाड और वैरूलैमियम (बॉथ) के नाट्यगृह हैं।

ऐम्फ़ीथिएटर रोम की अपनी विशेषता थी, यहाँ तक कि ग्रीक भाषा में इसके लिए कोई शब्द ही न था। वे समूचे रोमन साम्राज्य के क्षेत्र में पाये जाते हैं और उनसे रोमनों के चरित्र और जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—जो कि नाट्यमंच पर होनेवाले स्वाँग की अपेक्षा शस्त्रधारी वीरों के प्राणघातक मल्लयुद्ध को अधिक पसन्द करते थे। सैनिकों के राष्ट्र के लिए यह शिक्षण देने की प्रथा रोमन लोगों द्वारा अच्छी समझी जाती थी। शस्त्रधारी योद्धाओं का द्वंद्वयुद्ध सम्भवतः मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए मनुष्य की बलि देने से सम्बन्ध रखनेवाले धार्मिक श्राद्ध-संस्कारों का परिणाम था। जिस दीर्घवृत्ताकार रंगशाला में ये युद्ध होते थे वह वास्तव में आमने-सामने बनी हुई दो रंगशालाओं को एक में मिलाकर बनाई गई थी। योद्धाओं के मल्लयुद्ध के अति-रिक्त यह स्थान नौ-सैनिक प्रदर्शनों के लिए भी काम आता था और ऐसे अवसर पर समूचा स्थान पानी से भर दिया जाता था, ताकि उस पर जहाज़ उसी तरह तैर सकें जिस तरह वे समुद्रों में तैरते हैं। साँड़ों की लड़ाई के काम में आनेवाले स्पेन के आधुनिक अखाड़े या 'एरिना' रोमनों के शानदार एम्फ़ीथिएटरों के ही क्षुद्र वंशज हैं। उनकी बनावट वही है और उनका प्रयोग भी उसी उद्देश्य के लिए होता है। लैटिन भाषा में 'एरिना' शब्द का अर्थ रेत अथवा बलुआ समुद्र-तट है और इन अखाड़ों का यह नाम इसलिए पड़ा कि उनमें रेत बिछी रहती थी, ताकि मल्लयुद्ध करनेवालों के रक्त को वह सोख ले और उसका चिह्न आसानी से मिटाया जा सके।

संसार का सबसे प्रसिद्ध एम्फ़ीथिएटर रोम का 'कली-शियम' है, जिसको रोमन सम्राट् वैस्पेसियन ने बनवाना शुरू किया था और ऊपरी मंज़िल को छोड़कर (जो तीसरी शताब्दी में जोड़ी गई थी) सम्राट् डोमीशियन द्वारा पूरा किया गया था। यह इमारत मनुष्य के रचना-कौशल द्वारा निर्मित अब तक की सबसे आश्चर्यजनक कृतियों में से एक है और रोमवासियों के चरित्र में निर्दयता और तड़क-भड़क का जो अंश है उसकी सजीव प्रतीक है। यह रोम की शक्ति का साकार रूप है। भविष्यवक्ताओं ने यह भविष्यवाणी की थी कि "जब कलीशियम का विनाश होगा तब रोम का भी विनाश हो जायगा।" आकार में यह ६२० फ़ीट लम्बा और ५१३ फ़ीट चौड़ा विस्तृत दीर्घवृत्त है। हर मंज़िल में ८० मेहराबदार दरवाज़े बने हैं और निचली मंज़िल के दरवाज़ों से होकर तमाशा देखने के लिए बैठने की जगहों पर जाने का रास्ता है। अखाड़े का मुख्य भाग २८७ फ़ीट लम्बा और १८० फ़ीट चौड़ा एक अण्डाकार स्थान है, जिसके चारो ओर १५ फ़ीट ऊँची दीवाल है। इस दीवाल के पीछे सम्राट् तथा अग्रपुरोहित, ब्रह्मचारिणियों, सभासदों, न्याया-धीशों तथा राज्य के दूसरे उच्च राज्याधिकारियों के बैठने का स्थान था। पदाधिकारियों के इन आसनों के पीछे, जो 'पोडियम' कहलाते थे, ८० हज़ार दर्शकों के बैठने के लिए बृहत् स्थान बनाया गया था, जिसके नीचे बरामदे और सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। भवन के सबसे नीचे के भाग में, जो रंगभूमि के धरातल के समतल होता था, जंगली जानवर रखे जाते थे। बैठने के आसन, जो अब अपनी जगह से हटा दिए गए हैं, चार मुख्य भागों में बँटे हुए थे। नीचे के दो भाग या विशाल घेरे अश्वारोहियों और रोमन नागरिकों के लिए थे। एक घेरेदार दीवाल तीसरे भाग से इस हिस्से को अलग करती थी। तीसरे भाग के ऊपर सबसे ऊपरी बैठक की पंक्तियाँ थीं, जिनमें जाने का रास्ता चारों ओर बने हुए बरामदों से होकर था।

कलीशियम प्राचीन इमारतों में अपने ढंग की अनोखी इमारत है। उसके बनाने में स्थापत्य-कला की बारीकियों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक कठिनाइयाँ पड़ती थीं, विशेषकर इस कारण कि रोमन लोगों ने इस सारी की सारी दैत्या-कार इमारत को नीचे से ऊपर तक चुनकर बनाया था और इस विशाल इमारत में उस प्रकार के किसी बाहरी सहारे का उपयोग नहीं किया गया था जैसा कि ग्रीक लोग, दर्शक-मण्डली के बैठने के स्थान को धरती के भीतर खोदकर, नाट्यशालाओं के निर्माण में काम में लाते थे। इससे छोटे अन्य एम्फ़ीथिएटर वेरोना, पाम्पिआई, पोज़िओली, कैपुआ, साइरेक्यूज़, नीम्स, आर्ल, तथा (कारथेज के पास) एल जेम में पाए जाते हैं। वेरोना के एम्फ़ीथिएटर के अवशेष लगभग पूर्णतया सुरक्षित हैं, यद्यपि उसका अधिकांश नष्ट हो चुका है। हाल में इंगलैण्ड के डॉरचेस्टर तथा कर्लोन नामक स्थानों में दो एम्फ़ीथिएटरों की खुदाई हुई है।

रोमन सरकस का ढाँचा ग्रीसवासियों के 'हिप्पोड्रोम' की तरह ग्रीक व्यायामशालाओं पर आश्रित था, जो मुख्यतया साधारण दौड़ तथा अन्य व्यायाम के खेलों के प्रयोग में आता था। रोमन सरकस घुड़दौड़ तथा रथों की दौड़ के लिए बनाया जाता था। सबसे प्रसिद्ध सरकस मैक्सिमस, मैक्सेंशियस, डोमिशियन, हैड्रियान तथा नीरो के थे। मैक्सिमस का जूलियस सीज़र ने पुनर्निर्माण कराया था। यह २००० फ़ीट लम्बा और ६५० फ़ीट चौड़ा था। इसमें २५०,००० आदमी बैठ सकते थे।

रोमन समाधियों के रूप में काल का प्रवाह अपने अनेक स्मृति-चिह्न छोड़ गया है। ये समाधियाँ यहाँ ग्रीस की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। रोमन लोगों में शव को जलाने और ज़मीन में गाड़ने ये दोनों प्रकार के दाहसंस्कार प्रचलित थे। इस प्रकार एक ही समाधि-भवन में मृत शरीर के लिए शवाधार और शवभस्म के लिए भस्मपात्र दोनों ही साथ-साथ पाये जाते हैं। ईसाई सम्वत् की पहली तीन शताब्दियों तक प्रायः प्रत्येक रोमन सम्राट् का शव एक शानदार चिता पर रखकर जलाया जाता था, और शव को जलाने के साथ मृत शरीर से निकलकर जानेवाली आत्मा के प्रतीक के रूप में चितास्थान से एक गरुड़ पक्षी उड़ने के लिए छोड़ दिया जाता था। दूसरी शताब्दी में मृत शरीर को जलाने की प्रथा कम होने लगी और धनी नागरिकों के शरीर को उनकी मृत्यु के उपरान्त मसालों से लेपकर सुदृढ़ और बहुमूल्य शवाधारों में रखा जाने लगा। रोमन लोगों की शव-समाधियाँ पाँच प्रकार की होती थीं—शव की अस्थि को सुरक्षित रखनेवाली, स्मृति-चिह्नवाली, पिरामिड के आकार की, मन्दिर के आकार की और पूर्वीय ढंग की, जिनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। पहले प्रकार की समाधियाँ ज़मीन के नीचे छोटे मेहराबदार कमरों में होती थीं। ये 'कोलम्ब्रिया' और 'लोकुली' इन दो प्रकार की होती थीं। 'कोलम्ब्रिया' का अर्थ कबूतर का दरबा है। यह नाम इसलिए पड़ा कि उसकी शक्ल कबूतर के दरबे से मिलती-जुलती थी। इस ढंग की समाधियाँ चट्टानों में इस प्रकार के आले तराशकर बनायी जाती थीं, जिनमें मृत व्यक्तियों के भस्म-पात्र रखे जा सकें। इन भस्म-पात्रों पर मृत व्यक्तियों के नाम खुदे हुए होते थे। 'लोकुली' में शव को रखकर उसके मुँह पर पत्थर की एक पटिया जड़ दी जाती थी, जिस पर मृत व्यक्ति का नाम अङ्कित कर दिया जाता था। आगे चलकर ये मेहराबें रोम के "कैटेकुम्बस" ज़िले के नाम पर, जहाँ ये अधिकता से पायी गई हैं, "कैटेकुम्ब" (Catacombs) कहलाने लगीं।

स्मृति चिह्नोंवाली क़ब्रों में सबसे प्रसिद्ध क़ब्रें सीसीलिया मेटेल्ला, ऑगस्टस सीज़र (जिसे हाल में ही मुसोलिनी ने नये सिरे से बनवाया है) और हैड्रियान की हैं। पिरामिड की शक्ल की क़ब्रें रोम के मिस्र-विजय के बाद बनाई जाने लगीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध रोम में सीस्टिअस की क़ब्र है।

विजयी सम्राटों और सेनापतियों के सम्मान में मेहराबदार विजय-द्वारों का निर्माण किया जाता था। यह रोमन कला की एक प्रमुख विशेषता थी, जिसके दर्शन हमें आज के ज़माने में भी होते हैं। पेरिस का 'आर्क द त्रिऑफ़', बर्लिन का 'ब्रेंडेनबर्गर टार', लन्दन का 'संगमरमर का फाटक', ये सभी प्राचीन रोमन प्रथा की याद दिलाते हैं। टाइटस, ट्राजान, सेवेरस, कान्स्टैएटाइन तथा दूसरे कितने ही सूरमाओं के सम्मान में बनाये गये विजय-द्वार इटली भर में फैले हुए हैं और जेरूसलेम, पार्थिया तथा अन्य स्थानों पर रोम की प्राचीन काल की विजय की साक्षी देते हैं। रोमन विजय-स्तम्भों में इतनी प्रसिद्धि किसी दूसरे की नहीं है, जितनी सम्राट् ट्राजान के स्तम्भ की, जो कि डेसिया पर उसके विजय प्राप्त करने के उपरान्त बनाया गया था। इसकी कुल ऊँचाई ११५ फ़ीट और घेरा १२ फ़ीट है। डेसिया के युद्ध की घटनाएँ उभरे हुए चित्रों के रूप में स्तम्भ के चारों ओर इस तरह उत्‌कित की गई हैं मानों उन्हें किसी पत्र पर लिपिबद्ध करके स्तम्भ के उपर मढ़ दिया गया हो। यह चित्रांकन ८०० फ़ीट लम्बे और ३॥ फ़ीट चौड़े भाग में किया गया है और इस पर लगभग २५०० नाटकीय दृश्यों के चित्र खींचे गए हैं। मध्ययुग के ईसाई धर्मान्धों ने स्तम्भ के शिरोभाग पर बने हुए सम्राट् की गरुड़-सिंहासन पर बैठी हुई मूर्त्ति को गिरा दिया और उसके स्थान पर सन्त पीटर की मूर्त्ति बिठा दी गई है।

यही दशा 'मेडिटेशन्स' (मनन) के प्रसिद्ध लेखक दार्शनिक सम्राट् मारकस ऑरेलियस की मूर्त्ति की भी हुई। डैन्यूब की विजय के उपलक्ष में बनाये गये स्तम्भ पर बनी उसकी मूर्त्ति पोप सिक्स्टस पंचम की आज्ञा से हटा दी गई, और उसके स्थान पर सन्त पॉल की मूर्त्ति स्थापित कर दी गई। यह स्तम्भ ९७ फ़ीट ऊँचा है और उसका घेरा १३ फ़ीट है। स्तम्भ के चारों ओर उभाड़कर चित्र बनाये गये हैं।

रोमन काल के अन्य अवशेषों में रोम, स्पलाटो और दूसरे स्थानों के सम्राटों के विभिन्न प्रासाद, रोमन पुलें, एक्वेडक्ट और फव्वारे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, पर इस लेखमाला में उन सबका वर्णन देना सम्भव नहीं है।